

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180139

UNIVERSAL
LIBRARY

S. S. II (H)
HINDII
Dvitiya Khand'a

सु
भा
षि
त
सं
ग्र
ह
ः



५
खं
ड

ANANDA MURTI

OUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H88.8

Accession No. 41

Author

A535

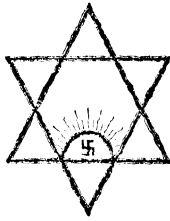
Title

आनन्दभूति -

सुभाषित संग्रह - 1955

This book should be returned on or before the date

(द्वितीय-खण्ड)



आनन्दमूर्ति

मूल्य—दो रुपये

हिन्दी प्रथम संस्करण—आनन्द पूर्णिमा २२ मई १९५६ ई०

प्रकाशक

श्री विन्देश्वरी सिंह

प्रकाशन सञ्चालक

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ

पो० -- जमालपुर

जि०-- मुंजेर

ग्रन्थकार द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित ।

मुद्रक—श्री अधिक लाल द्वारा दि प्रभात प्रेस
जमालपुर से मुद्रित

लेखक की सम्पादना में श्री ब्रजमोहन द्वारा
मूल बंगला से अनूदित ।

मार्गीय कर्मियों की मिलित प्रचेष्टा से “सुभाषित-संग्रह” का द्वितीय खण्ड प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ में “वेद में ब्रह्मविज्ञान” शीर्षक के पाँच निबन्ध हैं। यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि मैं वेद का व्याख्याकार नहीं हूँ। विभिन्न मौलिक विषयों के साथ वेद के विभिन्न अंशों का, विभिन्न श्लोकों की भित्ति पर मैंने कुछ दार्शनिक व्याख्या की है। वेद में सब कुछ है या वेद अपौरुषेय है, इस मतवाद की धारकता, बाहकता या परिपोषकता मैं नहीं करता। मैंने आनन्दमार्ग के दर्शन की व्याख्या की है और उस प्रसंग में जिस शास्त्र की उक्ति या श्लोक या ऋक् मेरे सामने आए उन्हें श्रोताओं को सुनाता गया हूँ और उसका आवश्यक अर्थ भी समझा दिया है। ये श्लोक या उक्ति जितना भी भाव वहन करती हैं, अनेक स्थलों पर मैंने उससे अधिक बातें कही हैं। ये अतिरिक्त बातें श्लोकों में नहीं हैं—ये आनन्दमार्ग के ही मर्म की बातें हैं। अनेक स्थलों पर अनेक श्लोकों के अर्थ बहुत संक्षेप में किया है। अनेक स्थानों पर आनन्दमार्ग के दर्शन की व्याख्या को इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं थी, इसीलिए मैंने नहीं कहा।

इस प्रसंग में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि ये निबन्ध हमारे लिखित निबन्ध नहीं हैं। पूर्णिमा महाचक्र में मैंने जिस भाषा में जो कुछ भी व्याख्या की है, उन्हीं को

(ख)

यहाँ बंगला में, रचना की भाषा में, दिया जा रहा है । ये अभिभाषण अधिकतर हृदी में ही दिए गये हैं, इसीलिये जिसे ठीक अनुवाद कह सकते हैं 'सुभाषित संग्रह' के हिन्दी संस्करणों को उस पर्यय के अन्तर्भुक्त नहीं कर सकता हूँ ।

निवेदनमिति

ग्रन्थकार ।

रोमन संस्कृत

विभिन्न भाषाओं का ठीक-ठीक उच्चारण करने के लिए एवं द्रुतलेखन की प्रयोजनीयता को समझकर निम्नलिखित पद्धति में रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्तन किया गया है।

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ
a	ā	i	ii	u	ū	r	rr
लृ	लृ	ए	ऐ	ओ	औ	अः	अः
७	७	ए	ऐ	उ	उ	अः	अः
lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज
ka	kha	ga	gha	u _n a	ca	cha	ja
भ	व	ट	ठ	ड	ढ	ण	
भ	व	ट	ठ	ड	ढ	ण	
jha	in _a	t _a	t _h a	d _a	d _h a	n _a	
त	थ	द	ध	न	प	फ	ब
त	थ	द	ध	न	प	फ	ब
ta	tha	da	dha	na	pa	pha	ba
भ	म	य	र	ल	व		
भ	म	य	र	ल	व		
bha	ma	ya	ra	la	va		

श	ष	स	ह	क्ष
श	ष	ग	ह	क्ष
sha	śa	sa	ha	kśa
अँ	ज्ञ	ऋषि	छाया	ज्ञान
अँ	छ	क्षि	छाया	छान
aṁ	jña	rśi	chāyā	jñāna
	संस्कृत		ततोऽहं	
	संस्कृत		ततोऽहं	
	samśkrta		tato'ham	

Ānanda Mārga Pracārika Samāgha
a ā b c d d' e g h i j k l m m' n n' n_o o
p r s ś t t' u u' v y.

समग्र विश्व में बहुल प्रचारित रोमन लिपि के २६ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठोक-ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है। इसमें युक्ताक्षर का भी भ्रमेला नहीं है। अरबी फारसी और अन्यान्य में f, q, qh, z प्रभृति अक्षरों का प्रयोजन रहता है, संस्कृत में नहीं।

शब्द के मध्य या शेष में 'ड' और 'ढ' यथाक्रम 'ड़' और 'ढ़' रूप में उच्चारित होता है। य (जहाँ य का उच्चारण 'इअ' होता है) के समान वे भी स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं। प्रयोजन के अनुसार अ-संस्कृत शब्द लिखने के समय rha और rhha व्यवहार किया जा सकता है।

सूचीपत्र

विषय	पृष्ठ
१. वेद में ब्रह्म विज्ञान (एक)	१
२- वेद में ब्रह्म विज्ञान (दो)	२३
३. वेद में ब्रह्म विज्ञान (तीन)	५६
४. वेद में ब्रह्म विज्ञान (चार)	६२
५. वेद में ब्रह्म विज्ञान (पाँच)	१३३

सुभाषित-संग्रह

(द्वितीय खण्ड)

वेद में ब्रह्मविज्ञान

(एक)

आदिम मानव के मन में जब प्रथम आराधना की वासना जगी थी तब उसने प्रारम्भ में उच्च ज्ञानवान् या उच्च शक्तिशाली व्यक्ति को ही अपने आराध्य रूप में ग्रहण किया था। इस अवस्था के पूर्ववर्ती काल में प्रकृति पूजा या जड़ की उपासना प्रचलित थी। पहाड़-नदी, वृक्ष-लता, अरण्य-समुद्र, ऊपासन्ध्या या वज्र-विद्युत् की उपासना करने पर भी जब उसके मन की लुधा नहीं मिटी, तब ईश्वराधना के पथ पर इसी व्यक्ति-पूजा के माध्यम से उसका प्रथम पदविज्ञेय हुआ। खण्ड के ऊपर पूर्ण ब्रह्मत्व का आरोप कर एक प्रकार के अवतारवाद की सृष्टि हुई और परम्परागत मानव से धर्म के नाम पर मनुष्य-समाज में बहुत दिनों तक यह अवतारवाद चलता रहा। किन्तु मनुष्य के प्राणों की लुधा अनन्त है। ज्ञान-मन्दिर में, स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की इच्छा धीरे-धीरे उसे दार्शनिकता के पथ पर ले गई। इसी दार्शनिक ज्ञान-चर्चा के फलस्वरूप उसकी

विचारधाराओं ने भी धीरे-धीरे मोड़ ली। उसने विचारना प्रारम्भ किया—खण्ड, सान्त की पूजा से उस अनादि, अखण्ड, आनन्द-स्वरूपत्व में पहुँचना किस प्रकार सम्भव है। अनादि, अनन्त, अव्यक्त, व्यापक सत्ता की अनुभूति के लिए उसके वुमुक्षित चित्त में उस सुप्रभात में विराट् आलोड़न, प्रबल अन्तर्मन्थन होना प्रारम्भ हुआ। जिसको सर्वसत्ता देकर मन ग्रहण करेगा वह कैसा है ?

प्राचीन काल में ब्रह्म भावना का प्रथम अङ्कुर ऋग्वेद में ही दीख पड़ता है। यजुर्वेद में यही अङ्कुर अजस्र शाखा-प्रशाखा समन्वित विशाल वृक्ष में परिणत हुआ। उस दिन के शुभ लग्न में मानव-मनीषा ने अपार्थिव ज्ञान की ज्योति से, दिव्य दृष्टि से देखा कि वस्तु तान्त्रिक जगत् में हम जो कुछ भी पाना चाहते हैं वे सब विराट् आनन्दस्वरूप के, उस विराट् सत्ता के ही खण्ड विकाशमात्र हैं। इनमें से कोई उसका पूर्ण रूप नहीं है। परन्तु जो खण्ड है, उसकी भी तो उपेक्षा नहीं की जा सकती है। खण्ड सत्ता भी तो उसके बाहर नहीं है। वह भी तो उसका ही अविच्छेद्य अङ्ग है। साधारण मनुष्य गूढ़ ब्रह्मतत्त्व को सहज ही ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सके। इसीलिए जप-यज्ञादि बहिर्मुखी क्रियाकलाप को धर्म-साधना समझ कर उन्होंने उसे जकड़ रखने का प्रयत्न किया। किन्तु ज्ञानी तत्त्वदर्शियों ने समझ लिया था कि इस खण्डोपासना, इस जड़ की उपासना के परिणामस्वरूप विकशित चैतन्य मनुष्य फिर

जड़त्व के पथ पर चला जायगा और क्रमशः वह स्वयं को ही जड़ रूप में परिणत कर लेगा। यह सच है कि मनुष्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जड़ के त्याग करने की बात तो दूर रही, जड़ को पाने की चेष्टा का भी त्याग नहीं कर सकता। किन्तु मोक्षन-वस्त्र या अन्यान्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी तो मनुष्य के प्राणों की लुधा नहीं मिटती है। किसी भी क्षेत्र में मोक्षन-वस्त्र के प्राण-धर्म विरोधी होने पर मनुष्य बिना वस्त्र के वर्षों काट सकता है अथवा स्वेच्छा से पृथ्वी से विदा हो सकता है। अतः केवल स्थूल प्रयोजन की पूर्ति के उद्देश्य से ही मनुष्य का काम नहीं चलेगा और यदि चले भी तो उसे चिरकाल तक आनन्द से वञ्चित होना पड़ेगा—मरुभूमि के हाहाकार में उसे चिरकाल तक मिर पर बोझ लादे भटकना पड़ेगा।

मनुष्य ने सोच-विचार कर देखा कि जब खण्ड का त्याग सम्भव नहीं है और अखण्ड की भावना जब लेनी ही पड़ेगी तब प्रत्येक खण्ड उसी विराट् का रूप-मात्र है, यह बोध सर्वदा चित्त में जाग्रत रखकर सीमित का व्यवहार करते चलें तो सीमित के प्रति आसक्ति नहीं होगी। आसक्ति की प्रेय-मुखी गति, श्रेयोऽभिमुखी गति में ही परिवर्तित होगी। प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म-भाव आरोपित कर एवं सर्व वस्तुओं की लुप्ता की सीमा लुप्त कर देने पर मनुष्य उनसे ब्रह्मानन्द की उपलब्धि करेगा, ब्रह्मानन्द को ही उपभोग करेगा। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में कहा गया है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन मुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

*Iishā vā syamidam sarvam yat kin₂ca ja-
gatyām jagat*

*Tena tyaktena bhuin₂jiithā mā grdhah ka-
syasviddhanam*

यह जगत् परिवर्त्तनशील और गतिशील है। गम् धातु में क्विप् प्रत्यय लगाकर जगत् शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ ही है गतिशील। यह विश्वब्रह्माण्ड ब्रह्म का मानसिक विकाश है। कल्पना मात्र ही अस्थिर और गतिशील है। इसीलिए सगुण-ब्रह्म का मानसिक विकाश यह जगत् भी अस्थिर और चञ्चल है। आज जो अति सुन्दर है वह कल भी वैसा ही सुन्दर रहेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज जो मिठाई खाने में सुस्वादु है, कुछ दिन पश्चात् वह खाने के उपयुक्त नहीं रहेगी, उसका रूप भी पूर्ववत् नहीं रहेगा। इसी प्रकार प्रत्येक खण्ड वस्तु परिवर्त्तनशील है और इसी कारण खण्ड का आनन्द शाश्वत हो नहीं सकता। अतः साधक को क्या करना होगा ? प्रत्येक खण्ड वस्तु में ही ईश्वरीय भावना अर्पित करनी होगी। सब कुछ तो परमात्मा का ही विकाश है। भूमि, घर-द्वार, नदी-पहाड़, मान-अपमान, दिवा-रात्रि सब कुछ तो उन्हीं के हैं और खण्ड रूप में भी वे ही प्रकाशित हैं। उनकी दी हुई वस्तुओं को उनका ही दान समझ कर यथायथ भाव से व्यवहार करते

चलो। यह भोग भी उन्हीं को भोग करना है। खण्ड का मोह त्याग कर अखण्ड के साथ सम्पर्क स्थापित करो। इस भाव से जब अपने को ले चलोगे तब दूसरों की वस्तु ग्रहण करने की इच्छा सम्पूर्णरूप से दूर हो जायगी। हमलोगों के मार्ग में ईश्वर को सब कुछ अर्पण करने का विशेष कौशल है। वस्तु में ईश्वरीय आवरण देने का अर्थ है सीमा का त्याग कर असीम की ओर प्रभावित होना। क्या पुत्र को खिलाते हो? नहीं, नहीं, ब्रह्म के ही पुत्र रूपी विकाश को खिलाते हो। क्या भूमि पर हल चलाते हो? नहीं, नहीं, ब्रह्म का ही सीमित-विकाश यह भूमि है। तुम हल चला कर उसकी सेवामात्र करते हो। प्रकृतपक्ष में वस्तु को ईश्वरीय भावना देने के पश्चात् वस्तु-भोग नहीं होता है। कारण, उस समय वस्तु, अवस्तु-रूप परमब्रह्म में ही मिल जाती है। जो इस तरह के प्रकृत वैराग्य में प्रतिष्ठित हुए हैं उनका मन किसी भी विषय में लिप्त नहीं हो सकता है। ऐसे व्यक्ति सब कुछ में रहते हुए भी सब कुछ के बाहर रहते हैं तथा देहान्त के पश्चात् वे परम पद में आश्वती शान्ति लाभ करते हैं।

स्नान जे करिवो जल ना छूड़वो, एलाइया दिया केश।

समुद्रे पशिवो नीरे ना तितिवो, नाहि दुःख शोक क्लेश॥

रजनी दिवस रवो परवश, स्वप्ने राखिवो लेहा।

एकत्रे आकिवो नाहि परशिवो भाबिनी भावेर देहा॥

वे कार्य करेंगे परन्तु उसके बन्धन में न पड़ेंगे। एक

धर्मरक्षा के नाम पर रक्तपात करने पर भी पीछे नहीं हटते; परन्तु व्यक्तिगत जीवन में सर्वदा ही भोग्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते रहते हैं। ये ठीक उसी तरह के जीव हैं जो क्रमशः ज्योति से अन्धकार की ओर जाते हैं, उन्नत मानव जीवन से पशु जीवन की ओर ही गति प्राप्त करने हैं। कारण, मनुष्य शरीर पाकर भी इनमें मनुष्योचित कर्म करने का आग्रह नहीं है। मनुष्य का एकमात्र कर्त्तव्य ब्रह्मसाधना है।

तत्त्वतः आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु हैं, भेद केवल मानसिक विषय में है। जीवमन जब अपने विषय के रूप में अनन्त को ग्रहण करता है तभी परमात्मा हो जाता है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि स्वरूपतः जब परमात्मा अनन्त है, तब उनमें जीव भाव रूपी विकृति कैसे आ जाती है? जीवात्मा के साथ इस परिदृश्यमान् जगत् का सम्पर्क भी क्या है? जीव का धर्म है अपने विषय को सीमित से असीम की ओर ले जाना, खण्ड से अखण्ड की ओर ले जाना। उसका यह धर्म सुख प्राप्ति की प्रेरणा से ही उद्भूत है, अपने को बचा रखने की प्रेरणा से ही उद्भूत है। भोग्य विषय अनन्त न होने तक शाश्वत सुख नहीं पाया जा सकता है और भावनीय एवं अभि-चनीय वस्तु-समूह में एकमात्र परमात्मा ही अनादि और अनन्त हैं। इसीलिए एकमात्र परमात्मा को छोड़कर किसी भी सत्ता से अनन्त सुख पाना सम्भव नहीं है। खण्ड वस्तु की प्राप्ति से सुख भोग की अपेक्षा उसके खो जाने का दुःख ही अधिक है और

मनुष्य जो जगत् को दुःखमय देखते हैं इसका कारण इसी खो जाने के दुःख को छोड़ कर और कुछ नहीं है। किन्तु ज्ञानी इसके खो जाने के दुःख से बिचलित नहीं होते, कारण वे जानते हैं कि सब प्रकार के दुःखों का मूल कारण स्वसृष्ट संस्कार है।

सुख या दुःख के भोगजात जिस संस्कार ने परमात्मा को जीवात्मा के भाव में ला दिया है, पूर्ण देह में अनन्त अणुत्व की छाप दे दी है, उसका भी आदि कारण विराट् की बद्धावस्था का संस्कार है। वस्तुतः इसे परमात्मा की विकृति न कह कर क्रिया-प्रतिक्रिया का मानसिक प्रतिफलन कहना ही अधिक युक्ति-संगत है।

जीवभाव अपूर्ण है। जब तक वह पूर्णता में प्रतिष्ठित नहीं होता है, तब तक उसका दुःख दूर नहीं हो सकता। पूर्व ही कहा जा चुका है कि साधक का दुःख भोग उसका ही स्वसृष्ट संस्कार सञ्जात है। उस संस्कार को भोग करने से भयभीत होना उचित नहीं है और ब्रह्म को भी इसके लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है। लोगों को बहुधा ऐसा कहते सुना गया है कि हे भगवन् ! तुम्हारे मन में यही था। इतना पूजा-पाठ, दान-ध्यान करने का भी क्या यही परिणाम है ?” इस तरह की उक्ति मूढ़ जनों की है। यह उक्ति महापाप है। क्लेश भोग के काल में साधक पूर्वकृत अपराध के लिए स्वयं को धिक्कार देकर भविष्य के क्लेश भोग से बचने के लिए सर्व प्रकार के अपकर्म से दूर ही रहेंगे। सब को यह स्मरण रखना चाहिए

कि जब तक दुःख की ज्वाला निवृत्ता नहीं होती है (संस्कार क्षय नहीं होता है) तब तक दुःख मोग करना ही होगा । इसीलिए कहता हूँ कि अपने संस्कार के लिए अन्य को दोष नहीं दो । संस्कार तुम्हारे ही त्रुटिपूर्ण आचरण की प्रतिछाया है । बिम्ब के गत्ने में जैसी माला पहनाओगे प्रतिबिम्ब में वैसी ही न दिखलाई देगी ! कवि विद्यापति कहते हैं —

“युग युग जीवथु बसथु लाख कोस ।

हमर अभाग सखि हुनक कौन दोष ॥”

दुःख में कभी भी घबड़ाना नहीं चाहिए । दुःख को पहचान कर बुद्धिमान् के समान परवर्ती जीवन में आचरण करना चाहिए । उसी अनादि, अनन्त सत्ता को मन के विषय रूप में ग्रहण कर उसी के अनुसार आचरण करते रहो ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन पूर्वमर्षत् ।

तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नापो मातरिश्वा दधाति ॥

*Anejadekam manaso javiiyo naenaddeva'á p-
nuvanpúrvamarśat*

*Taddhávato'nyá natyēti tiśī hat tasminná po
má tarishvá dadhá ti*

वही एक सत्ता है जो गति रहित है ।

देश भेद के नहीं रहने से गति नहीं रहती है । जिनमें सभी देश हैं, जो सार्वदैशिक सत्ता हैं, उनकी गति कैसी रहेगी ? और यह भी कहा जा सकता है कि वे मन से भी अधिक द्रुतगामी

हैं। क्योंकि, उनकी मानस देह में, अर्थात् उनकी कल्पना की गति से ही जगत् की सर्व सत्ताएँ गतिशील हैं और गति की प्रेरणा पाती हैं। इन्द्रियाँ उन्हें नहीं पकड़ सकती हैं। क्योंकि, इन्द्रियों की गति विषयों की ओर है और विषय (तथाकथित जड़) उनके मानसिक स्फुरण का बहिर्मुखी रूप है (सञ्चर-संवेदन) है। वे आनन्दधन सत्ता स्वरूप में मानसिक स्तर के ऊर्ध्व भास्वर होकर रहते हैं। उसी प्रज्ञाधन सत्ता के कारण जगत् में प्राणशक्ति और कर्मशक्ति रहती है एवं सभी प्रकार के जागतिक कर्म यथायथ भाव से सम्पन्न होते रहते हैं।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

Tadejati tannaejati tad dūre tadvantike

Tadantarasya sarvasyatu sarvasyāsya

bāhyatah

क्या वे चलते हैं? नहीं, नहीं—ऐसा नहीं। वे स्थाणुवत् हैं। वे बहुत दूर हैं? नहीं, वे तो अत्यन्त ही निकट रहते हैं। वे ही हमारे प्राणों के प्राण हैं। वे ही तुम्हारे-हमारे सभी के भीतर, बाहर, सर्वत्र समान भाव से रहते हैं। साधक जब उसी आनन्दधन सत्ता को ठीक-ठीक पहचान लेते हैं, तभी उनकी ब्राह्मी-स्थिति होती है। तब अन्तर और बाहर एकाकार (एक) हो जाता है। क्षुद्र के आकर्षण से मन तब हट जाता है और परम-ब्रह्म के साथ उनका यथार्थ परिचय हो जाता है। शरीर

नश्वर लोक में पड़ा रहता है, आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। मन को फिर पहचाना नहीं जा सकता कि किसका मन है? कवि चण्डिदास ने लिखा है—

श्री राधार कि होइलो अन्तरे व्यथा ।

वसिया विरले, थाकए एकले, ना सुने काहारओ कथा ॥

सदाई धेयाने, चाहे मेघपाने; ना चले नयन तारा ।

विरति आहारे, रांगा वास परे, येमति योगिनी पारा ॥

एलाइया बेनी, फूलेर गाथनि, देखए खसाए चूलि ।

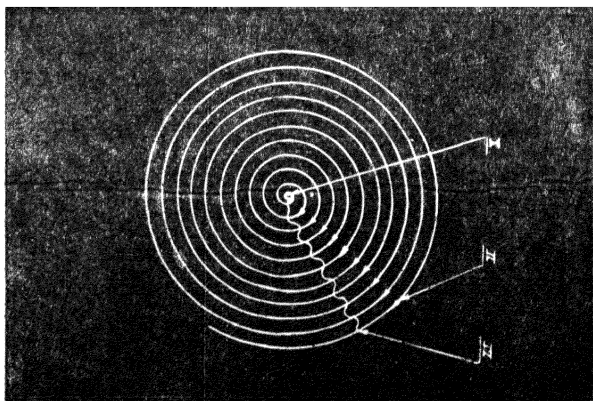
हसित नयाने, चाहे मेघ पाने, कि कहे दू हात तूलि ॥

एक दिठि करि, मयूर-मयूरी, कण्ठे करे निरीक्षणे ।

द्विज चण्डिदास कय, नव परिचय, कालिया वँधूरसने ॥

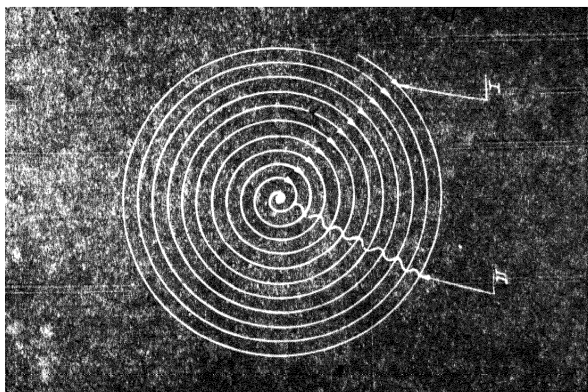
इस परिदृश्यमान् जगत् के सूक्ष्म से स्थूल के विकाश को सञ्चर कहते हैं। सृष्ट जीव और जगत् की स्थूल से सूक्ष्म की ओर की अप्रगति को प्रतिसञ्चर कहा जाता है।

सञ्चर



- (१) प्राण केन्द्र में सृष्टि का स्फुरण
- (२) सृष्टि (सृष्टिकारी भाव का नाम ब्रह्मा है)
- (३) परिवर्त्तनशील अस्तित्व या स्थिति (पालन-
कारी भाव का नाम विष्णु या Cosmic
Lord है)

प्रतिसञ्चर



- (१) तमः की जड़ता से-संहार के मुख से परमप्राण
की ओर गति (संहारकारी भाव का नाम
महेश्वर है)

- (२) परिवर्त्तनशील अस्तित्व या स्थिति

इसी तरह सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर
सृष्टि-चक्र घूमता रहता है। जीवों की गति स्थूल से सूक्ष्म की

ओर है। ब्रह्म से निकल कर ब्रह्म की ओर लौटकर जाने के मार्ग को ही ब्रह्मचक्र कहते हैं। यह चक्र सञ्चर और प्रति-सञ्चर क्रिया में घूमता रहता है।

जीव विद्यामाया के द्वारा ब्रह्म की ओर अप्रसर होता है और उनकी कल्पना की प्रतिसञ्चर क्रिया को अपनी साधना द्वारा त्वरान्वित कर देता है। जीव अविद्या माया की आराधना कर उनकी कल्पनाधारा की सञ्चर क्रिया को दीर्घायत तथा विलम्बित कर देता है। विद्या ज्ञान-प्रधान और अविद्या ज्ञान-वर्जित-कर्म-प्रधान है। साधक के जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों की समता रहनी आवश्यक है अन्यथा ब्रह्माभिमुखी गति होना दुष्कर है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

Andham tamah pravishanti ye'vidyā mū pāsate
Tato bhu'ya iva te tamo ya u vidyāyām ratāh

जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं वे क्रमशः अन्ध-कार की ओर ही बढ़ते हैं और जो केवल विद्या की उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्याऽन्यदाहुर विद्या ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ।

Anyadevā hurviāyayā' nyadā huravidyayā
Iti shushruma dhiirā nām ye nastadvicakśire

विद्या और अविद्या दोनों के फल सम्पूर्ण पृथक् हैं। विद्याश्रयी और अविद्याश्रयी की गतियों में कोई सामञ्जस्य नहीं है। स्थितधी व्यक्ति तथा अनुभूतिसिद्ध साधक जिन्होंने अच्छी तरह से विचार कर सब कुछ समझ लिया है, विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में हमलोगों को इसी तरह बता गए हैं। केवल विद्या अथवा अविद्या का अनुशीलन करने से ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है। मोक्ष प्राप्ति के लिए विद्या और अविद्या की समता आवश्यक है अर्थात् समो वस्तुओं के साथ उचित व्यवहार करते जाना है। ब्रह्मामिमुखी गति को विद्याप्रधान होना ही होगा। पर व्यवहारिक जगत् में अविद्या को पूर्णतया त्याग कर चलना सम्भव नहीं। उसे भी ब्रह्म की भावना देकर अपने जीवन की साधना के साथ मान कर चलना पड़ेगा। यहाँ पर विद्या और अविद्या की समता कहने से वस्तु भोगकाल में सामञ्जस्यपूर्ण आचरण से ही अभिप्राय है।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

*Vidyā'īn cā vidyā'īnca yastadvedobhayam saha
Avidyayā mrtyum tiirtvā vidyayā mrtamashnute*

इसीलिए प्रकृत तत्त्वज्ञ साधक ही सञ्चर और प्रतिसञ्चर विज्ञान को ठीक समझते हैं। वे सृष्टि-स्थिति लय तत्त्वों में से किसी को अस्वीकार नहीं करते, न वे

कर्म को अस्वीकार करते हैं। वे यथायथ भाव से कर्म साधना कर मृत्यु को अतिक्रम करते हैं और प्रज्ञा के द्वारा अमृतत्व लाभ करते हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

*Yastu sarvāṇi bhūtāni ātmanyevānupashyati
sarvabhūteṣu cātmā nam tato na vijugupsate*

जो प्रत्येक वस्तु में अपने को और अपने में सभी वस्तुओं को देखते हैं उनके मन में किसी के प्रति घृणा का भाव रह नहीं सकता है। ब्रह्मज्ञों का सबसे बड़ा लक्षण घृणा-त्याग है। सर्व भूतों को समभाव से देखने के फल-स्वरूप गुप्त रूप से भी कोई पाप क्रिया करने की सम्भावना उनमें नहीं रह सकती है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

*Yasmin sarvāṇi bhūtāni ātmaevābhū dvijā
natah*

Tatra ko mohah kah shoka ekatvamanu pashyatah

जब स्पष्ट भाव से यह बोध हो जाता है कि हमारा आत्मा सर्वभूतों में परिव्याप्त है तब और कुछ पाने की भूख या कुछ खो जाने का भय नहीं रहता है। सभी वस्तुओं में एकत्व का बोध आ जाने पर मोह और शोक को अपनी

अस्तित्व-रक्षा के लिए कोई उपकरण नहीं मिलता है ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमत्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

*Sa paryagā cchukramakā yamavranā masnā
viram śhuddhamapā paviddham*

*Kavirmanii śii paribhu'h svayambhūr'yáthā
ta thyato'rthān vyadadhā cchā shratibhyah
samā bhyah.*

उस परमब्रह्म का स्वरूप सर्वव्यापक है । लब्धक
उन्हीं के मध्य स्थित रहते हैं और उन्हीं का भाव लेकर
अन्त में वही हो जाते हैं । उनके उची भाव के मध्य में
सर्वार्थ-सिद्धि की क्षति तथा सर्वज्ञता का बीज रह जाता
है—“तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ।” परमात्मा का कोई
स्थूल शरीर नहीं है । वे हर दृष्टि से दोष रहित,
शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, द्रष्टा, ज्ञाता, आत्मजयी एवं स्वयम्भू
हैं । उनकी तुलना किसी से नहीं हो सकती—“न तस्य
प्रतिमा अस्ति” अर्थात् उनकी कोई प्रतिमा नहीं हो सकती
है । उनमें अनन्त क्षमा है । आदि काल से ही वे
जीवों को सब कुछ देते आए हैं और देते जाएँगे ।
उस विराट् पुरुष का भाव ठीक इसी प्रकार है ।

जो उनकी सृष्टि की झलक देख बहिर्मुखी भाव लेकर सृष्टि वस्तुओं की ओर दौड़ते हैं—सृष्टि वस्तु में ही जकड़े रहते हैं, फँसे रहते हैं—वे इस सृष्टि के पीछे जो महत् खड़ा है उन्हें भूल जाते हैं। सृष्टि को देखकर सृष्टि के अधीश्वर को भूल जाना क्या मूर्खता नहीं है? माँ भोजन बनाती है, बच्चा माँ को पाने के लिए दृढ़ात् रो उठता है। माँ बच्चे के हाथ में खिलौने दे देती है और बच्चा खिलौना देखकर इतना मुग्ध हो जाता है कि माँ का खयाल एकदम भूल जाता है। किन्तु जो बच्चा खिलौना पाकर माँ को नहीं भूलता, उसका रोना बन्द नहीं होता, माँ उसे गोद में ले लेने को और छाती से चिपका लेने को बाध्य हो जाती है। बच्चा भी एक हाथ में खिलौना ले दूसरे हाथ से माँ को पकड़े रहता है। जो बुद्धिमान साधक इस सृष्टि रूपी खिलौना को देखकर इसी पर भूलता नहीं और ईश्वर-प्राप्ति का प्रयास नहीं छोड़ता, भगवान् उसके हाथों स्वयं को पकड़ा देने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥

*Andham tamah pravishanti ye' sambhu' timupa'
sate*

*Tato bhu'ya iva te tamo ya u sambhu'tya'ni
rata'h.*

सम्भूति अर्थात् सृष्टि की झलक देखकर जो केवल उसी की

और दौड़ते एवं असम्भूति अर्थात् सृष्टि के विनाश की सम्भावना देखकर जो भय से उसी की चिन्ता करते हैं, इन दोनों की गति अन्धकारमय लोक में होती है। साधक सम्भूति, असम्भूति, सृष्टि और विनाश दोनों को ही समदृष्टि से देखें। पूर्णतया सम्भूति की उपासना करने वाले वैज्ञानिक (Scientists) जो विनाश के भय से सन्नत हैं और संसार त्यागी सन्यासी, इन दोनों के ही पथ त्रुटिपूर्ण हैं। ये पथ मोक्ष के पथ नहीं हैं। जो दोनों के बीच सामञ्जस्य रखकर चलते हैं, उन्हीं को अमृतत्व प्राप्त होता है।

सम्भूतिश्च विनाशश्च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

*Sambhūtiḥ ca vināśaiḥ ca yastadvedobhaya
m'saha*

*Vināśena mṛtyuṁ tīrtva sambhūtyā
mṛtamashnute*

सृष्टि और विनाश के स्वरूप को जो जान लेते हैं, वे मृत्यु के परे स्थान प्राप्त करते हैं। परिदृश्यमान् जगत् इस सृष्टि और विनाश लीला से ही विधृत है और इस सृष्टि से विनाश की ओर जो गति है वह चलमान अवस्था ही आपातदृष्टि से स्थिति प्रतीत होती है। अतः जो सृष्टि और विनाश को जानते हैं वे संसार चक्र को परिपूर्ण भाव से जानते हैं और इस चक्र के बाहर जाकर स्थिति लाभ केवल उन्हीं के क्षिप्त सम्भव है।

इस अमृतत्व अर्जन, इस ब्रह्मोपलब्धि के पथ का अन्तिम प्रनिबन्धक जीवमन का हिरण्मयकोश है। हिरण्मयकोश का अब तक अस्तित्व है तब तक साधक परमसत्ता को नहीं पा सकता। सृष्टि की भल्लक और विनाश का भय सदा ही साधक को चञ्चल बनाए रखता है। परमात्मा हिरण्मयकोश के ऊर्ध्व अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माश्च दृष्टये ॥

Hiraṇ mayena pā'treṇ asatyasyā'pikitaṁ mukham
Tat'tvaṁ pū'sanna pāvṛṇu satyadharmā'ya
drś'taye

हे परम ब्रह्म ! हमलोग सत्यलोक में, तुम्हारे लोक में स्थिति लाभ करें। इसके लिए इस हिरण्मयकोश का चमकता आवरण हमलोगों से दूर हटा दो, जिससे हमलोगों का मन हिरण्मयकोश की भल्लक में आकर्षित न हो। ईशोपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में इतना ही कहा गया है।

साधना के द्वारा मनुष्य जब स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने लगता है तब उसके समीपवर्धन धीरे-धीरे अपने ही ढीले होकर गिर जाने हैं और उस शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अन्तिमकी आहुति जाग उठनी है तब हिरण्मयकोश भी विनष्ट हो जाता है। काममय कोश, मनोमय कोश, अतिमानस कोश, विज्ञानमय कोश और हिरण्मयकोश पर्यन्त के जो ये

स्तर हैं, इनमें से प्रत्येक मन के किसी-न-किसी कोने में प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई-न-कोई सीमित विषय रहता ही है और वह विषय ही उसके बन्धन का कारण होता है। “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो,”—मन को निर्विषय करने पर ही जीव मोक्ष प्राप्त करता है। जैसे लोहे का तलवार के द्वारा निष्ठुर कार्य भी किया जा सकता है और बद्ध जीवों के बन्धन भी काटे जा सकते हैं। उसी तरह मन वैषयिक या नैर्वैषयिक गति के अनुसार बन्धन या मुक्ति दोनों का कारण हो सकता है।

सभी खण्ड वस्तुएँ बाह्य वस्तुएँ हैं। खण्ड के प्रति प्रेम कभी भी स्थायी नहीं हो सकता है, क्योंकि मन सर्वदा ही एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। इसलिए कहा जाता है कि खण्ड के प्रति जो प्रेम है उसे अखण्ड के साथ मिला दो। खण्ड को आत्मा या भगवान् समझने की भूल मत कर बैठो। आत्मस्वरूप में पहुँचने पर ही तो असीम के प्रति प्रेम भी सम्भव है। भूलकर भी अपने को क्षुद्र समझ कर जड़त्व की ओर मत जाओ। अनन्त प्रेम में रत होओ। तुम्हारा आत्मा ही परमात्मा में रूपान्तरित हो जायगा। सांसारिक कोई भी सुख अनन्त नहीं है। उसी परम सुख-सागर परमात्मा में अपने को सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर दो तब समझ सकोगे कि आनन्द किसे कहते हैं। आनन्द प्राप्ति का जो यह पथ है, यह जो आत्म-निवेदन की साधना है, इसे ही केवला-भक्ति कहते हैं। संसार में अपना कर्तव्य ठीक तरह से

करते जाओ। सभी कार्यों में लगे रहने पर भी अपने स्वरूप की चिन्ता करते जाओ, तभी यथार्थ साधना होगी। स्वरूप चिन्ता करते रहने पर एक दिन स्वरूप-स्थिति होगी ही और वही तो साधना का परम लक्ष्य है। आत्मा स्वरूपतः निष्पाप है। स्वकृत कार्य के कारण ही मन संस्कार में आवद्ध हो जाता है और उसके फलस्वरूप ही जीव को जन्म-मृत्यु का दास होना पड़ता है। साधना द्वारा, मनः शुद्धि द्वारा संस्कार का जब क्षय हो जाता है तब वह जन्म-मृत्यु के ऊर्ध्व चला जाता है। वही शाश्वत अमृत लोक है जहाँ आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं।

मुंगेर—

श्रावणी पूर्णिमा, १९५५

वेद में ब्रह्म-विज्ञान

(दो)

वेद मानव-मनीषा का अभिनव विकास है। वेद शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है ज्ञान। यही ज्ञान कहीं दैशिक, कालिक और पात्रिक सत्ता पर निर्भर करता है और कहीं वही सर्व-निर्मरशीलताओं से मुक्त, आत्म-सम्पूर्ण स्वरूपानुभूति है। प्रथमोक्त ज्ञान को उसकी वस्तु सापेक्षता के कारण ही आपेक्षिक ज्ञान या अपरा-ज्ञान कहते हैं और दूसरे को परा या पारमार्थिक ज्ञान। इस जगह वेद शब्द उसी पारमार्थिक ज्ञान के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

गत श्रावणी पूर्णिमा को मैंने शुक्ल यजुर्वेद में कुछ कहा था। इस बार अथर्व वेद में कहूँगा। किसी-किसी पण्डित व्यक्ति को भी कहते सुनना हूँ कि अथर्व वेद में सार-वस्तु कुछ नहीं है, जो कुछ है वह प्राग्ऐतिहासिक युग के मनुष्यों द्वारा बनाए गए भुत-प्रेत के थोड़े-से मन्त्र-मात्र हैं। यह मन्तव्य कितना सत्य है, इसका विचार तुम्हीं लोग करो।

महाज्ञानी ऋषि पिप्पलाद के समीप जाकर भृगुपुत्र वैदर्भि ने उनसे जिज्ञासा की, “भगवन! ब्रह्म-विज्ञान क्या है

और जगत् के साथ ब्रह्म का क्या सम्पर्क है ? दया करके इसके विषय में मुझे कुछ बताएँ ।”

ऋषि ने उत्तर दिया—

अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यजूंसि सामानि यज्ञःक्षत्रं ब्रह्म च ॥

Arā iva rathanā bhao prāṇe sarvaṁ pratiśth-
itam

Rco yajuṁ si sāmāni yajin ahkś atram rahma ca

जिस प्रकार रथ के अर-समूह (Spokes) चक्रनामि में गुँथे रहते हैं, ठीक उसी प्रकार विश्वब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म-केन्द्रिक होकर स्थित है । इसी ब्रह्म-चक्र का प्राण-विन्दु या स्फोट आब्रह्मस्तम्ब सभी सत्ताओं का मूलधार है । ऋक्समूह यजु-समूह, साम-समूह, बिप्रोचित अथवा क्षत्रोचित सेवा-रत व्यक्ति-समूह सभी ब्रह्मरूप चक्रनाभि पर निर्भरशील है ।

प्रजापतिश्चरमि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ।

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥

Prajā patishcarasi garbhe tvameva pratijāyase
Tubhyam prāṇa prajāstvima balim haranti
yah prāṇaeh pratitist'hasi,

प्रजा शब्द का अर्थ है सृष्ट वस्तु,—इस अर्थ में ब्रह्म अवश्य ही प्रजापति हैं, क्योंकि वे ही प्रत्येक सृष्ट वस्तु के नियन्त्रक हैं । यह प्रजापति-ब्रह्म ही भ्रूण-रूप में गर्भ में विचरण

करते हैं एवं जब वही भ्रूण जन्म-ग्रहण करता है तब यथार्थतः उसे उस भ्रूण का जन्म नहीं कह कर ब्रह्म का ही प्रतिजन्म कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि यह समूची सृष्टि ब्रह्म का ही विकाश है। जैसे चन्द्रमा एक है, किन्तु असंख्य गोष्पदों में प्रतिबिम्बित होकर वह असंख्य चन्द्रमाओं के रूप में प्रतिभात होता है। किसी नवीन चन्द्रमा का जन्म नहीं हो रहा है। एक ही चन्द्रमा भिन्न-भिन्न आधारों में प्रतिजात हो रहा है। ठीक वैसे ही एक ही ब्रह्म अनन्त असंख्य मानस-आधार में अनन्त जीव-रूप में दीख पड़ता है। ब्रह्म आनन्द-स्वरूप हैं। इसलिये जीव-समूह भी अपनी इन्द्रियों की सहायता से हमेशा अपने स्वरूप में अर्थात् आनन्दप्राप्ति की ओर दौड़ता चलता है। अतः इस क्षेत्र में कहा जाता है कि जीव-समूह उनसे प्रेरणा प्राप्त कर उन्हें पाने के लिये जानकर हो या अनजान ही अपने आप को उन्हीं की ओर ले जा रहा है (अथर्व वेद में अनेक स्थलों पर पुरुष के अर्थ में प्राण और प्रकृति के अर्थ में रयि शब्द का प्रयोग हुआ है)

देवानामसि बह्वितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।

ऋषीणाञ्चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥

*Devānāmasi bahvīitamah pitṛṇām prathamā
svadhā*

*Rṣīṇāṁ caritam satyamatharvāṅ girasā
masi.*

यहाँ पर देव शब्द का अर्थ है भाववाहक अर्थात् इन्द्रिय तथा स्नायुपुञ्ज । यह पिण्ड-शरीर इन्द्रिय तथा स्नायुओं के द्वारा ही भाव ग्रहण एवं व्यक्त करता है । इसलिये इन सबों को जैव-देह का देव कहा जाता है, किन्तु इन्द्रिय-चक्र अथवा स्नायु-पुञ्ज अपनी अस्तित्व-रक्षा तथा क्रियाशीलता के लिये पूर्ण रूप से मेरुदण्ड पर निर्भर है । यह मेरुदण्ड ही भाव-ग्रहण एवं व्यक्तिकरण का प्रधान केन्द्र है । इसीलिये मेरुदण्ड नहीं रहने में जीव गतिहीन जड़पिण्ड के समान हो जाता है । श्लोक में कहा गया है कि जैव देवताओं के लिये मेरुदण्ड जिस प्रकार चरम आश्रय है, समस्त ब्रह्माण्ड के लिए ब्रह्म भी ठीक उसी प्रकार है । ब्रह्म को यदि छोड़ दिया जाय तो समस्त विश्व अस्तित्व हीन हो जाता है, विश्व की कल्पना का बीज निश्चिह्न हो जाता है । प्राचीन पद्धति के अनुसार पितृ-कार्य स्वधा-मन्त्र से निष्पन्न होता था । इसीलिये कहा जाता है कि स्वधा-मन्त्र के द्वारा प्रथम पिण्ड प्राप्त करने वाले पूर्व पुरुष, परवर्ती पिण्ड प्राप्त करने वालों के लिये जितने महत्त्वपूर्ण हैं, संसार की सभी वस्तुओं की धारावाहिकता में ब्रह्म भी ठीक उसी प्रकार के प्रथम बिन्दु हैं । ऋषियों के लिये वे सत्याचरण के समान पवित्र हैं । ऋषि शब्द उन महानुभावों के लिये व्यवहृत होता है जिन लोगों ने अपनी-अपनी साधना द्वारा नई-नई वस्तुओं की उद्भावना करके मानव सभ्यता की अग्रगति को त्वरित कर दिया है । सत्य ही इन ऋषियों के द्वारा

जीवन-व्रत के रूप में ग्रहण किया जाता है, क्योंकि सत्याश्रयी नहीं होने से मनीषा का श्रेयोमुखी विकास नहीं होता है। सत्य शब्द का जो वास्तविक अर्थ है इसकी भी यहाँ कुछ आलोचना कर दी जाय। सत्य, तथ्य, सम्यग् तथा ऋत इन चारों शब्दों का प्रयोग लोग प्रायः एक ही अर्थ में करते रहते हैं, किन्तु वास्तव में इन चारों शब्दों में गुरुतर अर्थ-भेद है। तथ्य शब्द का अंगरेजी अर्थ Fact (प्रकृत घटना), सम्यग् शब्द का अंगरेजी अर्थ Correct (ठीक या भूलरहित) तथा ऋत शब्द का अंगरेजी प्रतिशब्द Truth है, किन्तु अन्य किसी भाषा में सत्य शब्द का प्रतिशब्द नहीं है। सत्य शब्द का दार्शनिक अर्थ है—अपरिणामी अर्थात् विकार-रहित, देश, काल तथा पात्र-गत विभिन्नता के स्पर्श से परे। मनुष्य का यह जो जीवन है, इसमें शैशव के बाद किशोरावस्था, उसके बाद यौवन फिर प्रौढत्व और वार्धक्य, इसी प्रकार परिवर्त्तन होता है और इसी तरह यह अग्रसर होता है। इसलिये न तो मनुष्य का यह जीवन ही और न इसको धारण करने वाला शरीर ही सत्य है। सत्य शब्द का एक और दार्शनिक अर्थ है चिद्स्वरूप पुरुष। साधना के क्षेत्र में सत्य शब्द का अर्थ है—“परहितार्थं वाङ्मनसो यथार्थत्वं सत्यम्”। इसलिये यहाँ सत्य शब्द का जो कुछ भी अर्थ क्यों न लिया जाय, कल्याण-धर्मी ऋषि को सत्याश्रयी होना ही पड़ेगा। श्रेयो-मुखी अपरिणामी सत्ता को परागति के रूप में समझना जिसने

नहीं सीखा है, उसकी सृष्टि, सृष्टि ही नहीं है—है अनासृष्टि ।

प्राचीन काल में ब्रह्म-साधना के द्वारा ब्रह्म की कृपा से महर्षि अथर्वा को ही सर्वप्रथम ब्रह्म-विद्या प्राप्त हुई थी, जिसे उन्होंने महर्षि अङ्गिरा को, अङ्गिरा ने सत्यवाह को और सत्यवाह ने अङ्गिरस को सिखाया । इसीलिए ऋषि यहाँ पर कहते हैं कि अङ्गिरस आदि के सामने ब्रह्म-विज्ञान के प्रवक्ता के रूप में अथर्वा का स्थान जितना महत्त्वपूर्ण है, संसार की सारी सत्ताओं के लिए समी स्थितियों के मूलाधार ब्रह्म की स्थिति भी ठीक वैसी ही है ।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषाम्पतिः ॥

Indrastvam' prāṇa tejasa Rudro'si parirakṣitā
Tvamantarikṣe carasi su'ryastvam jyotiśām
patih.

इन्द्र शब्द का अर्थ है भ्रष्ट अथवा राजा । जीव-समूह को सञ्जीवित करने वाली प्राणशक्ति के ब्रह्म ही नियन्त्रक हैं । इसलिए जब वे अपनी अमिव्यक्ति के द्वारा हमलोगों के प्राण-समूह का, शक्ति-समूह का नियन्त्रण करते हैं उस समय उन्हें कहूँगा इन्द्र; जब वे हमलोगों के परम मित्र के रूप में अपने स्नेह-कोमल स्पर्श द्वारा दारुण विनाश के मुख से हमलोगों की रक्षा करते हैं उस समय

उन्हें कहता हूँ रुद्र। उनका अस्तित्व सब जगह है। कहीं स्फोट रूप में, कहीं भाव रूप में और कहीं स्थूल वैयक्तिक सत्ता के रूप में वे हमलोगों के चारों ओर विराजमान हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ उनकी सत्ता अभिव्यक्त न हो। हमलोग ऊपर से देखने में जिसे शून्य समझते हैं, वह भी उनकी सत्ता से परिपूर्ण है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि पहुँच नहीं पाती तथा कल्पना जहाँ से टकड़ा कर लौट आती है वहाँ पर भी वे विराजमान हैं।

जले हरि, स्थले हरि,
अनले अनिले हरि,
ग्रह-तारा-सूर्य हरि,
हरिमय ए त्रिसंसार।

ग्रह जगत् में सूर्य के रूप में उनकी ही मद्रिमा भास्वर होकर हैं। ये जो स्नायुपञ्जों के मेरुदण्ड, पितृ-पुरुषों की स्वधा, ऋषियों के सत्य, इन्द्र, रुद्र सूर्य आदि हैं, ये क्या सभी पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं? नहीं। ऐसी बात नहीं है। सब कुछ वे ही हैं। सब कुछ वे ही हैं। सब कुछ वे ही हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे, मानो किसी व्यक्ति का शुभ नाम ध्रुवज्योति है। उसे पुत्र बाबूजी कहकर पुकारता है; क्योंकि वह उनमें पिता रूपी विकाश देखता है; पिता उसे धेवा कहकर पुकारते हैं; क्योंकि उसमें वे पुत्र रूपी विकाश पाते हैं। विद्यालय के छात्र उन्हें 'मास्टरजी' कहकर पुकारते हैं, क्योंकि वे उनमें शिक्षक

रूपी विकास देखते हैं और कोई टांगावाला उन्हें 'ऐ टोपी' कहकर पुकार लेता है, क्योंकि वह उनकी टोपी को ही प्रमुख रूप से देखता है। किन्तु वास्तव में 'बाबूजी', 'मास्टरजी', या 'ऐ टोपी' सब क्या प्रत्येक पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं? वास्तव में यह सब एक ही ध्रुवज्योति को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने का परिणाम-मात्र है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥

*Yadā tvamabhivars̄ asyathemaḥ prāṇāte prajāḥ
Ānandarūpā stisthanti kāmāyānnam bhaviṣ̄yatiiti*

संसार में जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है—सब कुछ चेतन है। यह चेतन कहीं सघन है और कहीं अघन। चैतन्य की जहाँ घनावस्था है आपात-विचार से उसे हम चेतन कहते हैं और जहाँ अघनावस्था है अर्थात् प्रकृति की प्रधानता अधिक है, उसे हमलोग जड़ कहते हैं। इस तथाकथित जड़ या चेतन में अन्तर इतना ही है कि अपनी घनावस्था के कारण तथाकथित चेतन स्वयं ही अपने को नियन्त्रित कर सकता है, किन्तु चैतन्य की घनावस्था नहीं रहने के कारण तथाकथित जड़ पूर्ण रूप से प्रकृति की इच्छा से अर्थात् ब्राह्मी-मन की कल्पनाधारा के अनुसार चलने के लिए बाध्य होता है। परन्तु इससे एक प्रश्न उठ सकता है कि तथाकथित जड़ जब ब्राह्मी मन की इच्छा से

परिचालित होता है तब ब्रह्म की कृपा तो इस जड़ के ऊपर ही होगी। चेतन जब अपनी चिन्ता स्वयं कर सकता है तब ब्रह्म उसकी चिन्ता क्यों करेंगे? उसके ऊपर ब्रह्म की कृपा-वर्षा होने का तो कोई कारण नहीं। पृथ्वी जड़ है, इसीलिए उन्होंने कृपा करके उसका मार्ग निश्चित कर दिया है; जिससे वह धूम-केतु के धक्के से चूर-चूर न हो जाय। किन्तु चेतन मनुष्य को तो उन्होंने कोई भी चीज खाने का अधिकार दे रखा है; चाहे वह विष हो या अमृत। तब क्या जीव की यह चेतनता उसके लिए अभिशाप स्वरूप है?

नहीं, उनके सामने चेतन-अचेतन का कोई भेद नहीं। इनमें से किसी के प्रति कोई पक्षपात नहीं। अचेतन स्वयं कोई कार्य नहीं करता, अतः वह शुभ कर्म के लिए पुण्य और अशुभ कर्म के लिये प्रलम्बाय का भागी नहीं होता और चेतन अपने कर्म के अनुसार शुभ या अशुभ फल पाता है, सुख-दुःख भोगता है। कर्म फल के अनुसार जिसे जो भोगना है वह भोगे, इसके लिये वे अपने कर्तव्य से विमुख क्यों होंगे? शिशु के जन्म के साथ-साथ वे माता के स्तन में दूध देते हैं तथा देते हैं पिता का स्नेह, बन्धु का प्रेम, ये सब क्या उनकी ही कृपा नहीं है? वैशाख की कड़ी गर्मी के बाद जो वर्षा की धारा धरती पर उतर आती है, वह भी तो उन्हीं की कृपा-वर्षा है। इससे अचेतन पत्थर, लोहा सोना आदि तो दुःख या आनन्द का अनुभव नहीं करते। आनन्द तो पाता

है चेतन प्राणी-समूह । इसी वर्षा की धारा से उन लोगों के मोग्य-पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनके माध्यम से वे उस आनन्द स्वरूप का ही खण्ड-खण्ड करके उमोग और अनुभव करते हैं । इसलिये वे तुम्हें भूले तो नहीं ही हैं । तुम्हारे ऊपर उनकी अहैतुकी कृपा है । इतना तो शायद तुम्हारा प्राप्य भी नहीं होगा ।

ब्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिगता विश्वस्य सत्पतिः ।

वयमाद्यस्य दातारः पितात्वं मातरिश्वनः ॥

Brátyastvam' prañaeṛśirattā vishvasya
satpatih

Vayamādyasya dātārah pitā tvam mātari-
shvanah

ब्रात्य शब्द का अर्थ है पति । समाज-शास्त्र के विधान के अनुन्तार विप्र यदि विप्रोचित कार्य नहीं करें, तो वह ब्रात्य पर्याय-भुक्त हो जायगा । ठीक उसी प्रकार क्षत्रिय या वैश्य यदि अपने-अपने वर्ण के अनुसार कार्य नहीं करें तो वे भी ब्रात्य पर्याय-भुक्त हो जाएँगे । केवल शूद्र के साथ ब्रात्यत्व का प्रश्न नहीं उठता है, क्योंकि शास्त्रीय संस्कार से विहीन व्यक्ति को ही शूद्र कहा जाता है । ब्रात्य-ब्राह्मण, ब्रात्य-क्षत्रिय तथा ब्रात्य-वैश्य की क्रिया वर्णोचित नहीं होने के कारण ये वर्णाश्रम के अन्तर्गत शूद्र से मीहीन समझे जाते हैं । यहाँ पर ब्रह्म को ब्रात्य कहा जा रहा है,

क्योंकि वे वर्णाश्रम के सभी प्रकार के संस्कारों से बाहर हैं। कोई भी संस्कार उनको बाँध नहीं सकता। संस्कार-बद्ध सभी शक्तियाँ उनके माहात्म्य के सामने सिर झुका लेती हैं। अज्ञान-बोधिनी तन्त्रमें भी कहा गया है—

वर्णाश्रमामिमानेन श्रुति दाम्ये भवेन्नरः ।

वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुति मूर्ध्नि ॥

Varnāśhramābhīmānena shrutidāsyē bhavēnnarah
Varnāśhramavihīnashca vartate shrutimūrdhni

मनुष्य में जब तक वर्णगत (जाति-वैषम्य, अर्थ वैषम्य या देश वैषम्य या शिक्षागत अथवा अन्य किसी प्रकार का वैषम्य) संस्कार रहता है, तब तक वह अभेदात्मक अखण्डैकरस ब्रह्म को किसी प्रकार अनुभव नहीं कर सकता, उसे पा नहीं सकता। यह जो जातिगत अभिमान है इसे जब तक वह पूँजी बनाकर रखता है तब तक वह अपने को शास्त्रीय विधान का दास बनाकर रखता है। किसी-न-किसी वर्ण को वह अपने चित्त का प्रधान अवलम्बन बनाकर रखता है। साधना के द्वारा चित्त के सम्यक् विकाश से अथवा परमपद में अपने चित्त के सम्यक् विलयन के द्वारा जब वह वर्णातीत ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है तब वह शास्त्रीय

सु० स—३

विधान की चोटी पर पहुँच जाता है। भेदमूलक विधान का स्थान उस समय उसके पैर के नीचे रहता है। वर्णहीन होने की यह साधना ही सच्ची साधना है।

† वेद में एकर्षि नामक एक पवित्र अग्नि का उल्लेख है। अत्यन्त यत्न के साथ इस अग्नि की रक्षा की जाती थी। इसलिए जनसाधारण इस अग्नि को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखता था एवं अन्य अग्नियों की अपेक्षा इसे अधिक सम्मान देता था। अब देखो, एक तरफ इसे कहा जा रहा है ब्राह्म्य अर्थात् पतित और दूसरी तरफ उसी को कहा जा रहा है एकर्षि के समान पूजनीय। सब संस्कारों के बाहर रहने के कारण किसी भी गुण के द्वारा वह बाँधा नहीं जाता और श्रेष्ठ समाज में श्रेष्ठतम रहने के कारण इस एकर्षि की पवित्रता भी अपरिमाप्य रह जाती है।

† ऋषि की अनुपस्थिति में अग्नि की रक्षा का भार साधारणतः उनकी पत्नी लेती थी और पत्नी की अनुपस्थिति में यह काम पुत्र के द्वारा निर्वहित होता था। एकर्षि अग्नि की रक्षा ऋषिगण स्वयं ही यत्नपूर्वक करने की चेष्टा करते थे। साधारणतः जो विवाहिता स्त्रियाँ स्वामी के साथ समान सामाजिक और धार्मिक अधिकार पाती थीं वे ही पत्नी कहलाती थीं। जो केवल सामाजिक अधिकार पाती थीं उन्हें जाया कहा जाता था और जो धार्मिक या सामाजिक कोई भी अधिकार नहीं पाती थीं किन्तु उनके गर्भजात सन्तान पितृकुल की मर्यादा पाते थे, उनको भार्या कहा जाता था।

यही ब्रह्म संसार की सभी वस्तुओं के भक्षक या संहारक भी हैं, क्योंकि विश्व-कल्पना इनके ही मानस धातु में उद्भूत होकर उसी में विलीन हो जाती हैं अर्थात् एक ओर ब्रह्म के रूप में ये अपने कल्पित-जगत् की जहाँ सृष्टि करते चलते हैं, दूसरी ओर ठीक उसी प्रकार निर्मम संहर्ता रूप में उसका प्रास भी करते चलते हैं। जगत् की सभी वस्तुएँ, सारी सत्ताएँ ही उनका भक्ष्य है, उनका अन्न है और सब का एक दिन अपनी-अपनी सत्ता की उनमें आहुति देनी ही पड़ेगी। इसलिए कहा जाता है कि यह जीव-समूह उनकी भक्ष्य वस्तुओं का देने वाला है। लोग उन्हें दान क्या करते हैं? दान करते हैं अपना अहम् बोध, दान करते हैं अपने क्षुद्र स्वार्थ की व्यथाविडम्बित सत्ता को।

ये परमात्मा ही मातरिश्वा के पिता हैं। मातरिश्वा अर्थात् वायु ही अन्तस्थ एवं वह्निस्थ भेद के अनुसार दश रूपों में रूपायित होकर जीव की अस्तित्व-रक्षा करता है। अतः जीव के सर्व बोधों की यही मातरिश्वा आधार-भूमि है और ब्रह्म हैं इस मातरिश्वा के परिचालक—उसके पिता। वायु है जीव का प्राण और ब्रह्म हैं प्राण के प्राण।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या-श्रोत्रे या-च चक्षुषि।

या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्कमीः॥

*Ya' te tanúrva'ci pratist'hita' ya' shrotre
ya' ca caks'us'i*

*Yá ca manasi santatá shiva'm ta'm kuru
motkramiih*

हम जब बोलते हैं, हमारा वह वाक्य तुम्हारे रूप का ही एक विकास मात्र है। हम जो कुछ सुनते हैं वह तुम्हारे रूप का ही शाब्दिक विकास है। आँखों के सहारे जो कुछ देखते हैं वह तुम्हारा ही रूपात्मक विकास है। मन-ही-मन जो कुछ भी चिन्ता करते हैं, विचार करते हैं और पाप-पुण्य समझ कर किन्नी सिद्धान्त तक पहुँचते हैं वह सब भी तुम्हीं हो। तुम्हारे बाहर का कुछ नहीं है अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जो कुछ भी ग्रहण करती हैं वह तुमसे व्याप्त जगत् से ही और हमारी कर्मेन्द्रियाँ जो कुछ कार्यान्वित करती हैं या छोड़ती हैं, वे सब तुम्हारी ही विशेष-विशेष अभिव्यक्ति मात्र हैं। हे कठणामय ब्रह्म ! तुम्हारी प्रेरणा से हमारी गति शुभ एवं शिवत्व की ओर ही नन्मुख हो। हम जो कुछ बोलें, जो कुछ सुनें, जो कुछ देखें, सब तुम्हारी भावना से भावित होकर श्रेयवस्तु में परिणत हो, जिससे किसी हीन सत्ता को हम न देख सकें, न सुनें, न वाचनिक रूप ही दें, हम जिससे प्रतिक्षण समझें कि हमारा द्रष्टव्य, श्रोतव्य और वक्तव्य—सब कुछ तुम्हीं हो। हे परमब्रह्म ! तुम हमारे प्रति कृपण नहीं होना। तुम हमें शुभ पथ पर ले चलो, कल्याण के पथ पर ले चलो। सम्यक् रूप से हमारी सम्पूर्ण गति को नियन्त्रित करो।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितं ।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञाञ्च विधेहि नः ॥

*Prāṇasyedam' bashe sarvam' tridive yat
pratisth'itam'*

*Māteva putrāṇ raks'asva shriishcha prajināin,
ca vidhehi nah*

इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जितनी सृष्टि वस्तुएँ हैं सभी परम-ब्रह्म के दश में हैं । स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् की प्रत्येक वस्तु का वे नियन्त्रण करते हैं । उनकी महिमा पर संसार ने अपने को समर्पित कर दिया है । हे परमात्मा ! तुम हमलोगों को ब्रह्मविद्या की शिक्षा देकर शुभ-पथ पर ले चलो । हमलोग एकान्त भाव से तुम्हारे ऊपर ही आश्रित हैं । जिस प्रकार माँ अपने पुत्र की रक्षा करती है, तुम भी उसी प्रकार हीनता, दीनता, लज्जा आदि से हमलोगों की रक्षा करो । श्री एवं प्रज्ञा में हमलोगों को प्रतिष्ठित करो । ऋषि विष्णुलाद ने भरद्वाजपुत्र सुकेशा को कहा था —

अराइव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः ॥

*Ara'iva rathana'bhao kala' yasmin pratis-
th'ita'h*

*Tam' vedyam' purus'am' veda yatha' mā vo
mrtyuh parivyathā'h*

जिस प्रकार रथनाभि अरसमूह (Spokes) को नियन्त्रित करती है, ठीक उसी प्रकार परमब्रह्म इस विश्व संसार की सोलहों कलाओं को नियन्त्रण करते हैं। इन सोलह कलाओं को अर्थात् दश इन्द्रिय, पञ्च प्राण (अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) और अहंतत्त्व का नियन्त्रण करते हैं। ये सोलहो कलाएँ सम्पूर्ण रूप से उन्हीं पर आश्रित हैं। ये सोलहों कलाएँ ही जन्म मृत्यु अथवा आयु की हास-वृद्धि का कारण हैं। उन्हें जानने की चेष्टा करो। पराज्ञान के सहारे उन्हें पहचान लो। उन्हें पहचान सकने पर तुम मृत्यु अर्थात् सर्व प्रकार की अधोगति से सहज ही बच सकोगे। तुम मृत्यु का अतिक्रम करोगे। मृत्यु का अतिक्रम करने के लिये परमात्मा ही परम औपध हैं। मृत्यु का प्रतिषेध करने वाला वही अमृतस्वरूप ब्रह्मरस है। इसीलिये वैदिक ऋषि ने अमृत-सिन्धु ब्रह्म के उद्देश्य में गाया था।

असदो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्युर्मा अमृतोर्गमय आविराविः मयैधि ॥

Asado mā sadgamaya tamaso mā jyotir-
gamaya

Mrtyurma amrtorgamaya āvira'vīh mayaedhi

हे परम ब्रह्म ! तुम हमें इस मृत्यु-लोक से अमृत-लोक में जाने का पथ निर्देश करो।

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत् पदमत्रैतत् समर्पितं
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं
परं विज्ञानाद् यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ।

*A'vih sannihitam' guha'caranna'ma mahat
padamatraetat samarpitam
Ejat pra'nannimis'acca yadetajja'natha
sadasadvaren'yam
Param' vijina'na'd yadvaris'tham' praja'
na'm.*

अथर्व वेद में अन्यत्र परमात्मा के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा गया है। वे स्वयं प्रकाश के स्रोत हैं अर्थात् उनकी ज्योति अन्य किसी सूत्र से प्राप्त वस्तु नहीं है। वे सभी सद्-वस्तुओं में ही (जगत् में असत् नामक कोई वस्तु नहीं है, यों साधारणतः जिसे हमलोग असत् कहते हैं वह सत् की ही माया-धोन अवस्था है) निहित हैं अर्थात् सकल सद्वस्तुएँ वे ही हैं; इसलिए हमारा अहम् भी उनसे अलग नहीं है।

वे हमलोगों के प्राणों के प्राण, मैं का मैं तथा आत्मा के आत्मा हैं। उनसे अधिक निकट का ओर कोई वस्तु हमलोगों के लिए नहीं है। वे गुहाचर हैं। यहाँ पर गुहाचर शब्द का अर्थ पर्वत-कन्दरावासी नहीं है, गुहा शब्द से यहाँ तात्पर्य है हृदय या अन्तःकरण। इसलिये वे गुहाचर हैं, वे हृदयवासी हैं—हृदय के अधिष्ठाता देवता हैं।

जीव सर्वदा ही कोई निरापद आश्रय की खोज में रहता है। किन्तु ऐसा कोई आश्रय नहीं जो उसे स्थायी सुरक्षा प्रदान कर सके। एक मात्र वे ही जीव के सब से बड़े आश्रय हैं। उनसे महत्तर अथवा श्रेष्ठ कुछ नहीं है। वे गतिशील हैं। यहाँ प्रश्न उठता है—जो सर्वव्यापी हैं आखिर उनकी गति कहाँ से कहाँ तक होगी? किन्तु सचमुच में वे गतिशील हैं और उनकी मानस-देह की कल्पनाधारा में उनकी गति रहती है। यह जगत् उनकी मानस-देह से सृष्ट कल्पना-विलास मात्र है। यदि वास्तव में उनकी कल्पना नहीं होती, यदि उनकी मानस-देह में कल्पना का संवेदन जाग्रत नहीं होता तो यह जगत् सृष्ट नहीं होता। प्राण अशनादि में से जीव देह में जो पञ्चवायु की क्रिया चलता है, जिसके कारण जीव जीवित है—वह प्राणशक्ति अथवा वायु भी वे ही हैं। चक्षु-पल्लवों की जिस निमिष क्रिया ने प्रति मुहूर्त मनुष्य की अति सूक्ष्म तन्मात्र ग्रहण-शक्ति को बचा रखा है—वह वे ही हैं। वास्तव में वह प्राणशक्ति या निमिष-क्रिया आदि के पीछे छिपे हुए परम-सत्य के रूप में, जीव-मानस में उनका अस्तित्व ही ध्वनित होता है। उनके अस्तित्व की प्रेरणा से शिरा-धमनी और स्नायुमंडल बद्बोधित और स्पन्दित होते हैं। इस संसार में हमलोग सद् या असद् वस्तु के रूप में जिन वस्तुओं को समझते हैं, वे सभी उनके ही अवस्था-भेद मात्र हैं। सद् वस्तु कहने से जिस पुरुष-सत्ता का बोध होता है, ब्रह्म-भावना केवल उसी

पुरुष-सत्ता तक तो सीमित नहीं है । जो विराट् प्रकृति पुरुष-सत्ता को स्थूल दृष्टि से असद् वस्तु में परिणत करती है, वह प्रकृति भी वही है । प्रकृति और पुरुष का मिलित नाम ब्रह्म है ।

त्वमेकोद्वित्वमापन्नो शिवशक्ति विभागशः ।

*Tvamekodvityama'panno shivashakti vibha'-
gashah*

ब्रह्म सर्व श्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं है । 'यदन्येनाधिरोहति' । लौकिक ज्ञान के द्वारा ब्रह्म प्राप्य नहीं हैं । पाण्डित्य उन्हें पकड़ने में असमर्थ हैं—छूने में अक्षम है । वे हैं ज्ञानातीत और मनुष्य का ज्ञान है खण्ड-ज्ञान । वे सबके पूजनीय हैं । सभी सृष्ट वस्तु के शीर्ष पर वे अपनी महिमा से स्थित हैं । वही हैं वे, जो तुम्हारे अहम् बोध के ज्ञाता हैं । उन्हें जानने की चेष्टा करो ।

यदर्चिमद् यदगुभ्योऽणु च यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः
तदेतत् सत्यं तदमृतं तद्वेद्व्यं सोम्य विद्धि ॥

*Yadarcimad yadan'ubhyo' nu ca yasmin loka'
nihita lokinashca
Tadetadaks'aranī Brahma sa pra'n'astadu
va'unmanah*

*Tadetat satyam tadamrtam tadveddhavyam
somya viddhi*

वे ज्योतिष्मान् हैं। वे अणु के भी अणु हैं, परमाणु के भी परमाणु हैं। वे इतने सूक्ष्म हैं कि मन उस सूक्ष्मता को आँक नहीं सकता और दूसरे भाव से देखने पर वे इतने विराट् हैं कि समग्र ब्रह्माण्ड उनके बीच स्थित है। वे अक्षर हैं, वे अच्युत हैं और हैं प्राणस्वरूप, सत्यस्वरूप तथा अमृतस्वरूप। हे सोम्य, हे साधक ! वे ही तुम्हारे वाक्य हैं और वे ही हैं तुम्हारे मन । तुम अपनी साधना की एकाग्रता द्वारा अपनी आत्मिक शक्ति से उनको विद्ध करो ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्यविद्धि ॥

*Dhanurgrhiitvaopanis'adam' maha'stram'
sharam' hyupa'sanishitam' sandhayiita
A'yamya tadbha'vagatena cetasa' laks'yam'
tadeva'ks'ram' somyavidddhi*

हे सोम्य साधक ! साधना-पद्धति ही (जिसके द्वारा ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त हो, उसे ही उपनिषद् कहा जाता है, अतः यहाँ साधना-पद्धति का ही बोध होता है) तुम्हारा महास्त्र धनुष है। उपासना के द्वारा तीक्ष्ण कर मनरूपी बाण का उस पर सन्धान करो। अब चित्त को उनके भाव में लीन कर धनुष में टङ्कार दो और अपने लक्ष्य उस अक्षर परमात्मा को

विद्व करो । (यह हुई सविकल्प-समाधि की अवस्था)

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्व्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥

*Pran'avo dhanuh sharo hya'tma' Brahma
tallaks'yamucyate
Apramattena veddhavyam sharavattanmayo
bhavet*

हे सोम्य ! प्रणव अर्थात् ॐकार ही तुम्हारे धनुष का मूर्तरूप है । यहाँ धनुषटंकार का अर्थ है प्राणायाम क्रिया अर्थात् प्राण व आत्मशक्ति को आन्दोलित करना । यदि तुम शर के रूप में आत्मा का व्यवहार करो और अनन्यचित्त (अप्रमत्त) होकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य की ओर धमै चलाओ तब अवश्य ही जिस प्रकार साधारण शर अपने लक्ष्य में जाकर अटक जाता है उसी प्रकार तुम्हारा आत्मा भी परमात्मा के साथ एकीभूत हो जायगा ।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।

तमेवैकं जानथ आत्मनमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

*Yasmin dyaoh prthivi' cántariik's'amotam
manah saha prá'n'aeshca sarvaeh
Tamevaekamí já'natha átmanamanyá vá'co
vimuin'cathá mrtasyaes'a setuh*

जिनसे आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्ष (शून्य) जकड़े हुए

हैं, मन, पञ्चप्राण और इन्द्रियसमूह जिनके बीच ही स्थित हैं, हे साधक ! तुम केवल उन्हें जानने की चेष्टा करो, उनको जानने की चेष्टा के अतिरिक्त अन्यान्य सभी अवान्तर बातों का त्याग कर दो । तुम हो मरणशील, मृत्यु के दास । अमृतत्व में प्रतिष्ठित होने की तुम्हारी शाश्वत आकांक्षा है और ये ही हैं उस अमृतत्व तक पहुँचानेवाले सेतु । अतः केवल उनको जानने से ही तुम्हारा वास्तविक कल्याण होगा ।

अराइव रथनाभो संहता यत्र नाडयः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा
जायमानः

ॐमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात्
Arā'iva rathanā'bhao sam'hata' yatra nā'd'yah
sa c's'o'ntashcarate bahudhā jā'yamā'nah
On mityevam dhyā'yatha ā'tmā'nam svasti
rah parā'ya tamasah parastāt

जिस प्रकार रथ के अर रथनाभि में स्थिर रहते हैं, ठीक उसी प्रकार नाड़ीपुञ्ज उनमें आश्रित रहते हैं । जीव-देह में सहस्रारस्थित आत्मा ही नाड़ी पुञ्ज का प्रधान आश्रय है अथवा इस जगत् रूपी ब्रह्मचक्र के समस्त अर, ब्रह्माण्ड के प्रधान केन्द्र उसी स्फोट अथवा उसी पुरुषोत्तम में आश्रित हैं । नाड़ी शब्द का मतलब है भावराहक । सभी मावों के प्राण-केन्द्र वे ही हैं—आत्मा के आत्मा, वही परमात्मा । उस ॐस्वरूप परमात्मा

का ही ध्यान करो । तुम अन्धकार के उस पार आलोक के राज्य में प्रविष्ट होने की साधना में तत्पर हुए हो । इस परम प्रकाशमान लोक में तुम्हारा गति-पथ जययुक्त हो—तुम्हारा शुभ हो ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ।

मनोमय कामशरीरनेता प्रतिष्ठितेऽन्ने हृदयं सन्निधाय

यद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।

*Yah sarvajñah sarvavid yasyaesā mahimā
bhuvī*

*Divye Brahmāpure hyeśa vyomnyātmā pratiś-
thītaḥ*

*Manomaya kāmaśarīranetaḥ pratiśtḥita'anne
hrādayanī sannidhāyā*

*Yadvijñānena paripashyanti dhīrā ānan-
darūpamamṛtam yadvibhāti*

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् हैं, सभी लोकों में जिनकी महिमा सुप्रतिष्ठित है, वे ही विराट् पुरुष आनन्दमय लोक में, अपने स्वरूप में देदीप्यमान हैं । जीव साधना के द्वारा अपने चिदाकाश में उनकी सत्ता उपलब्धि कर सकता है । वे जीवों के प्राणस्वरूप हैं तथा काममय, मनोमय आदि लोकों के वे ही नेता हैं । जीव के हृदय में अर्थात् महत्तत्त्व में अर्थात् 'मैं हूँ' इस बोध

के साथ इसके ज्ञाता रूप में वे ही प्रतिष्ठित हैं। धीर व्यक्ति अर्थात् साधक विज्ञान के द्वारा अर्थात् विशेष रूप से ज्ञान के द्वारा उनका परिदर्शन अर्थात् उनका सम्यग् दर्शन करते हैं। वे आनन्दस्वरूप तथा अमृतस्वरूप में भास्वर हैं।

मिथ्यते हृदयग्रन्थिश्लिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

*Bhidyate hrdayagranthishchidyante sarva
samsāyāḥ
Kṣīyante cāsya karmāṇi tasmin dr̥ṣṭe
parāvare*

वे परावर हैं (अर्थात् कार्यरूप में प्रधान और कारणरूप में अप्रधान) वे चैतन्यस्वरूप हैं। जो उन्हें देखते हैं, उन लोगों की हृदयग्रन्थि के पुञ्जीभूत संस्कार दूर हो जाते हैं; मन के समस्त संशय दूर हो जाते हैं। उन लोगों के द्वारा अर्जित शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं ।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदोविदुः ॥

*Hiraṇmaye pare koshe virajam Brahma
niṣkalam
Tacchubhram jyotiṣāṃ jyotistad yadātma-
vidoviduḥ*

इस पञ्चकोशात्मक शरीर में हिरण्मयकोश ही सबसे सूक्ष्म

कोश है और इसके ऊर्ध्व में ही रहते हैं निष्कल अक्षर ब्रह्म । वे निष्कल हैं, क्योंकि वे विकार रहित हैं, दोष रहित हैं । उनमें क्षर रूपी पञ्चकोशात्मक विकाश नहीं है, उनकी ज्योति शुभ्र है । वे सभी ज्योतिष्मान् वस्तुओं की ज्योति हैं । सभी ज्योतिष्मान् वस्तुओं के पीछे वे ही ज्योतिस्वरूप होकर विद्यमान हैं । उनके सामने अन्य सभी ज्योतियाँ मलिन हो जाती हैं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति
कुनोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

*Na tatra sūryo bhāti na candratārakam
Nemā vidyuto bhānti kuto' yamagnih
Tameva bhāntamanubhāti sarvam
Tasya bhāsa sarvamidam vibhāti*

उनके सामने सूर्य भी ज्योतिष्मान् के रूप में प्रकाशित नहीं होता है अर्थात् सूर्य भी म्लान हो जाता है । चन्द्रमा और तारा आदि की अवस्था भी वैसी ही है । बिजली की झलक वहाँ प्रकाशहीन है और अग्नि की अवस्था का तो कहना ही बेकार है । वे मास्वर हैं, इसीलिए उनकी समस्त सत्ताएँ मास्वर हैं । उनकी ज्योति के द्वारा की अन्य सभी वस्तुएँ ज्योतिष्मती हैं ।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं ॥

*Brahmaevedamamrtam purastād Brahma
pushcāt Brahma daksīṇātashcottoreṇa
Adhashcordhvain ca prasrtam Brahmaevedam
vishavamidam varīśtham*

ये अमृतस्वरूप ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हैं। आगे-पीछे, दक्षिण-उत्तर ऊपर-नीचे, सब जगह वे ही परिव्याप्त हैं। यह त्रिमुवन उनका सर्वश्रेष्ठ विकाश है अथवा इस त्रिमुवन में वे ही सर्वश्रेष्ठ सत्ता के रूप में विकशित हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरण्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति
*Dvā suparnā sayujā sakhāyā samānam
vrkṣam pariśvasvajāte
Tayoraṇyah pippalam svādvattyanaśna-
nnanyo'bhicākāśhiiti*

परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध किस प्रकार का है ? यह ठीक उसी प्रकार का है जैसे एक ही वृक्ष पर दो सुन्दर पंखवाले पक्षी सख्यभाव से परस्पर मिलकर बैठे हों, एक तो उसी वृक्ष का सुस्वादु फल भक्षण करता है और दूसरा कुछ नहीं खाकर केवल ज्ञाता के रूप में उसे जानता जाता है। यहाँ फल भक्षण करने वाला पक्षी है जीवात्मा, क्योंकि मन रूपी वृक्ष में शुभ-अशुभ जो भी फल उत्पन्न होते हैं, जीवात्मा पर उसकी ही छाप पड़ती है अथवा जीवात्मा उसके द्वारा उपहत होता जाता है। जगत्

की सम्पूर्ण सत्ता के ज्ञाता के रूप में परमात्मा भी उसी मानस-वृत्त पर अधिष्ठित हैं, किन्तु वे उसका फल नहीं खाते। केवल अन्तर्यामी रूप में उसे जानते ही रहते हैं। वे हैं मूल प्रकाश और जीवात्मा है उन्हीं का मानसिक प्रतिफलन।

समाने वृत्ते पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

Sama'ne vrks'e purus'o nimagno'niishaya'
shocati muhyama'nah

Just'am' yada' pashyatyanyamiishamasya
mahima'namiti viitashokah

उस एक ही वृत्त पर स्थित जीवात्मा अपनी अनीशता के कारण सीमाबद्ध होकर शोक दुःखादि के द्वारा उपहत हो जाता है, किन्तु वह जब परमात्मा की कृपा पाता है और उनके द्वारा उपकृत होता है (अर्थात् साधना का संकेत सीखने का सुयोग पाता है) तब वह उसी परमात्मा का ईशता अर्थात् सीमाहीनता देखकर उनकी महिमा से उद्बुद्ध होकर वीतशोक होता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधुय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

Yada' pashyah pashyate rukmavar'n'am'

Karta'ramiisham' purus'an' Brahmayonim'

*Tada' vidva'n pu'n'yapa'pe vidhuya
nirain janah paramam'sa'myamupaeti*

साधना के पथ पर आगे बढ़ता हुआ साधक क्रमशः उस ज्योतिर्मय पुरुष को प्राप्त करता है। यह पुरुष अक्षरभाव से नश्वर वस्तुओं के कर्त्ता या नियन्ता हैं। इस क्षर अक्षर को लेकर ही ब्रह्म है और इस क्षर-अक्षरात्मक ब्रह्म के प्राण-केन्द्र के रूप में, बिन्दु (स्फोट) के रूप में जो ब्रह्मचक्र के कारण-स्वरूप हो गए हैं, वे ही हैं ब्रह्मयोनि। इस पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में इस प्रकार समझाया जा सकता है। मान लो, तुम मन ही मन मुंगेर की कल्पना करते हो। अब तुम्हारी आत्मिक सत्ता का एक अंश मानस-धातु में परिवर्तित हो जाता है और वही मानस-धातु मुंगेर का रूप धारण कर लेता है। तुम्हारे मानस-धातु के बाकी अंश उस मनःसृष्ट मुंगेर के दर्शक रूप में रहने हैं। अब तुम्हारी मानसिक सत्ता का जो अंश दृश्य अथवा द्रष्टा इन दोनों में से किसी में भाग तो नहीं लेता है किन्तु तुम्हारे दृश्य-द्रष्टा भाव का ज्ञाता होकर रहता है, तुम्हारा वही भाव ब्रह्मगत भाव में व्यवहार होने पर पुरुषोत्तम कहलाएगा। ब्रह्म की इस ज्योतिर्मयी सत्ता को जान सकने से निरञ्जन ब्रह्म या स्फोट को भी जाना जाता है। स्थित-धी जीवात्मा उस समय पाप और पुण्य दोनों का त्याग करके निरञ्जन स्वरूप (जिसमें अञ्जन या दोष नहीं है) हो जाता है। तब उसमें सम्यक् समता का आविर्भाव होता है, उसमें भावों का

उच्छ्वास और प्रकाश की उत्ताल तरङ्गमाला नहीं रह जाती ।
उसके समस्त संघात अतल-स्पर्शी ब्रह्म-समुद्र की चरम प्रशान्ति
में लीन हो जाते हैं ।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मारतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

*Pra'n'o hyes'a yah sarvabhūtaervibhāti
vijānan vidvān bhavate nativādī
Ātmakriidā ātmaratih kriyāva'nes' a Brahm-
avidā'm'varis'th'ah*

ब्रह्म सर्वभूतों में प्रकाशमान हैं । जिस विद्वान् व्यक्ति ने
इस ज्योतिस्वरूप को जान लिया है, वह अतिवादी नहीं रह
जाता है । किसी विषय को लेकर अवान्तर तर्क करके अपनी
वाक्-शक्ति का निरर्थक अपव्यय कर वह अपना समय नष्ट
करना नहीं चाहता है । (श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—जिसने
उन्हें जान लिया है उसे संसार की सभी वस्तुएँ अलोना मालूम
पड़ती हैं) वह तब आत्मा को लेकर ही क्रीडामग्न रहता है,
आत्मिक आनन्द में ही विभोर रहता है । इसलिए सांसारिक
क्रिया के रूप में उसका जो कुछ भी संवेदन
प्रकाशित होता है, वह समस्त कल्याण-धर्मी होता है ।
ऐसे कल्याणकृत-साधनमार्ग के पथिक ब्रह्मविद् समाज में
श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

*Satyena labhyastapasa' hyes'a a'tma' samyag
jin'ānena brahmacaryen'a nityam
Antah-shariire jyotirmayo hi shubhro yam'
pashyanti patayah kśiin'ados'a'h.*

ब्रह्म सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान (पराज्ञान) और नित्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। जो इस माव से साधना करते हैं वे अपने अन्तःलोक में परमब्रह्म की शुभ्र ज्योति का साक्षात्कार करते हैं। जो यति (जो यम-नियम में प्रतिष्ठित हैं) उनका इस प्रकार दर्शन करते हैं, वे निर्मल, निष्कलुष हो जाते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्त्यृपयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥

*Satyameva jayate nānrtam' satyena panthā
vitato devaya'nah
Yenākramantyrś'ayo hyā'ptakā'mā'yatra tat
satyasya paramam' nidhānam*

सत्य की विजय होती है और सत्य उसी को कहा जाता है जिसके पीछे परहित की भावना है। मिथ्या की जीत न कमी होती है और न हो सकती है। मिथ्या से सामयिक सफलता भले ही मिल जाय, किन्तु वह सफलता दारुण पराजय का ही सूचक है। सत्य के द्वारा ही कण्टकाकीर्ण मोक्षपथ प्रशस्त एवं सुसंस्कृत होता है। उसी पथ का अनुसरण करके

ही आप्तकाम ऋषि सत्य के परम-निधान उस परमपुरुष का संग लाभ करते हैं ।

बृहच्च तदिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।

दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

Brhacca taddivymacintyaru'pam' su'kśmācca

tat su'ksmataram'vibha'ti

Du'ra't sudu're tadihāntike ca pashyatsvibaeva

nihitam' guhā'yām

और सत्य का यह परम निधान या परम उत्स क्या है ? ऋषि कहते हैं, सत्य के आवास ब्रह्म एक ओर इतने बृहत् हैं कि वे अचिन्तनीय हैं, अनन्त ज्योति हैं, फिर दूसरी ओर वे क्षुद्र से क्षुद्रतर हैं, अणु से भी क्षुद्र, परमाणु से भी क्षुद्र, विद्युत-कण से भी इतने क्षुद्र कि मन उसे अपनी कल्पना में नहीं ला सकता है, किन्तु उस क्षुद्र भाव में भी वे ज्योतिष्मान् हैं । जो उन्हें अपने से दूर समझता है, उसके लिये वे अधिकाधिक दूर हैं और जो उन्हें अपने नजदीक समझता है, उसके लिये वे अधिकाधिक निकट हैं । जिसे देखने की आँखें हैं, जिसने उन्हें कुछ भी जान लिया है, वह जानता है कि वे उसके अस्तित्वबोध के बीच, हृदय की वृत्ति के बीच परम ज्योतिष्मान् रूप में विराज-मान् हैं । उन्हें खोजने के लिए, उन्हें पाने के लिए देश-विदेश भटकने की तो कोई आवश्यकता नहीं ।

“अन्तरेते नाइ से जे, अन्तरे आछे । ”

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

*Na cakṣ́ṇśa grhyate nápi vácá nán̐yaedeva-
estapasá karmaná vá*

*Jiṇána prasádena vishuddhasattvastatastu
tam̐ pashyate niṣkalam̐ dhyáyamánah*

आखिं उनको देख नहीं सकतीं, शब्दों के द्वारा उनके विषय में समझाया नहीं जा सकता, इन्द्रियों की तपस्या अथवा कर्मों के द्वारा उनका अनुभव करना कठिन है। सद्गुरु की कृपा से साधक जब ज्ञान में प्रतिष्ठित होता है, निष्ठा के साथ उनका भाव लेकर अपने चित्त में जो साधना करता है, वह सूक्ष्म चित्त का साधक ही उस निराकार परमसत्ता की उपलब्धि कर सकता है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणाः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वभोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

*Éśo'ńurátmá cetsá veditavyo yasmin
prá'n'a'h paincadhá sam̐ vivesha*

*Prá'ńaeshcittam sarvamoṭam̐ prajānám̐
yasmin vishuddhe vibhavatyéśa A'tmá*

आत्मा अणु से भी अणु है। इसको केवल चैतन्य की सहायता से ही जाना जा सकता है। साधक के अन्तर्लोक में ही यह चैतन्यघनसत्ता प्रकट होकर रहती है। जब तक मनुष्य के शरीर में प्राण, अपानादि पञ्चवायु क्रियाशील हैं तब तक

साधक को ब्रह्मप्राप्ति की साधना का सुयोग मिलता है, किन्तु साधारणतः बहुत कम ही मनुष्यों के भाग्य में ऐसा अवसर आता है, कारण अधिकांश मनुष्यों का चित्त इन्द्रियों की ताड़ना द्वारा बहिर्मुखी भाव लेकर विषयों की ओर दौड़ता रहता है। साधना के द्वारा जब चित्त की विशुद्धि होती है, तभी वह उन इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त हो पाता है और तभी वह अपने बीच उस परमपुरुष की परमज्योति की उपलब्धि कर सकता है। जो अपने आत्मा में परमात्मा को देख पाता है, वही आत्मज्ञ है।
यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यं च कामान्
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥

*Yanī yanī lokanī manasā sam vibhāti vishu-
ddhasattvah kāmayate yam shca kāmān
Tam tam lokam jayate tam shca kāmān-
stasmā dātmajīnam hyarcayedbhu ti kāmah*

आत्मज्ञ व्यक्ति जिन प्रकारों का चिन्तन करते हैं, उन प्रकारों को वस्तुएँ उन्हें मिलती जाती हैं। उनकी कामना जैसी होती है, विषय भी उसी तरह का रूप ग्रहण करता है। विषय की खोज में बाह्य-जगत् में उनको निरर्थक दौड़धूप नहीं करनी होती है। वे आप्तकाम हैं, पूर्णकाम हैं। अतः अपनी सर्वात्मक उन्नति के लिए उन्नतिकामी व्यक्ति-मात्र ही आत्मज्ञ की पूजा करते हैं।

वेद में ब्रह्म-विज्ञान

(तीन)

महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते
शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥

*Sa vedāetatparamam Brahmadhāma
Yatra vishvam nihitam bha'ti shubhram
Upāsate puruṣam ye hyakāma'ste
Shukrametadativartanti dhiirā'h*

परमब्रह्म को जानने वाले उन्हें इस विश्वब्रह्माण्ड के आश्रय रूप में ही जानते हैं। जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम, आब्रह्मस्तम्ब जो कुछ है, प्रत्येक सत्ता के वे ही परम आश्रय हैं, वे ही परमधाम हैं। यह विश्व उन्हीं से सृष्ट हुआ है, उन्हीं की ज्योति से दीप्तिमान् है। उनसे यह सृष्ट हुआ है, केवल इतना ही नहीं; बल्कि

यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं की विकृति है, उन्हीं के द्वारा तैयार हुआ है। वे ही इस विश्व के उपादान कारण हैं और निमित्त कारण भी। उन्हीं के गुणात्मक विकाश की परिणति तथा कार्य के रूप में जो अष्टा-प्रकृति एवं षोडशा विकृति (दश इन्द्रिय, मन और पञ्च तन्मात्र) हैं, उन्हीं सब की सामवायिक सृष्टि यह विश्व है। इस विश्व का बीज या सम्भावना भी उन्हीं में निहित है। इस विराट् भाव के कारण ही उनका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है—बृहत् (बृहत्त्वाद् ब्रह्म) और जो दूसरों को बड़ा बनाते हैं अर्थात् जिनकी भावना लेकर क्षुद्र भी बड़ा बन जाता है उसका नाम भी ब्रह्म है (बृंहणत्वाद् ब्रह्म) यह जगत् जब उन्हीं का आश्रित है तब जगत् से वे निश्चय ही बड़े हैं। मानलो, घर में एक बक्स है। बक्स की तुलना में वह घर बड़ा है तभी न उसमें बक्स रखने की जगह मिली? घर के छोटा होने से तो ऐसा नहीं होता। वह विराट् विश्वब्रह्माण्ड जिनमें समाहित है, स्वाभाविक नियमानुसार वे विश्वब्रह्माण्ड से बृहत् हैं। विराट् पुरुष की विराट् देह में समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड उन्हीं की ज्ञातृ-सत्ता को केन्द्र बनाकर, उनको प्राणबिन्दु रूप में रखकर, चक्राकार घूमता चलता है। इस चक्र में घूमते घूमते जो उनकी ज्ञातृसत्ता की ओर साधनशक्ति से अप्रसर होता है, वह उनके साथ एकीभाव प्राप्त करता है। वह भी बही हो जाता है। इस प्रकार उनमें बृंहणत्व का गुण भी वर्तमान है।

ब्रह्म शुभ्र ज्योति से ज्योतिष्मान् हैं। श्रुति में कहा है कि प्रकृति और पुरुष ये दोनों अविनाभावी और अपृथक्सिद्ध सत्ताएँ हैं। जहाँ पुरुष के ऊपर प्रकृति क्रियाशील है, वहीं पर ब्रह्म शुभ्र-ज्योतिः हैं। गायत्री मन्त्र में इस शुभ्र-ज्योतिः के अर्थ में भर्ग शब्द व्यवहृत हुआ है। अतः यह भर्ग और सगुण-ब्रह्म अभिन्न हैं। ब्रह्म और ब्रह्मज्योति की अभिन्नता भर्ग शब्द का प्रकृत अर्थ अनुधावन करने से समझा जा सकता है। भ, र और ग इन तीन अक्षरों से भर्ग शब्द बना है।

भ—भासयतीमात्लोकानिति

अर्थात् जिनके द्वारा जगत् उद्भासित होता है।

र—रञ्जयतीमानिभूतानि

अर्थात् जो प्राणी-समूह के आनन्द का विधान करते हैं।

ग—गच्छत्यस्मिन् आगच्छत्यस्माद् इमाः प्रजाः

अर्थात् समग्र सृष्टि जिनसे आकर जिनमें लय होती है।

श्रुति में कहा गया है—

भेति भासयते लोकान्

रेति रञ्जयति प्रजाः

ग इत्यागच्छत्यजस्रं

भरगात् मगे उच्यते।

Bheti bhá sayate loká n

Reti rain jayati prajā h

Ga ityá gacchatyajasram

Bhuraḡāt bharga ucyate

साधारणतः भर्ग शब्द ब्रह्म की ज्योति के अर्थ में ही व्यवहृत होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और उनकी ज्योति क्या भिन्न है? यदि कहा जाय कि राम में अमुक-अमुक गुण है अथवा श्याम में अमुक-अमुक गुण है तो यहाँ पर व्यक्ति और गुण क्या दोनों दो पृथक् सत्ताएँ नहीं हुई? किन्तु इस तरह का भेदात्मक विचार अनन्त, अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्म के पक्ष में प्रयुक्त नहीं हो सकता। ब्रह्म और उनकी ज्योति दोनों अलग सत्ताएँ नहीं हैं। क्योंकि वे स्वयं प्रकाश हैं, राहु-शिरश्च तुलना से कहा जा सकता है कि वे ज्योतिस्वरूप हैं।

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। जगत् में सर्वत्र सभी वस्तुओं में ही इन तीन गुणों का खेल हो रहा है। इसलिए मानव शरीर में भी इसका व्यतिक्रम नहीं है। मानव शरीर की नाभि से नीचे का भाग तमोगुण प्रधान है, नाभि से कण्ठ तक रजोगुण प्रधान और कण्ठ से त्रिकुटि तक (जहाँ पर मन की मूल अधिष्ठान-भूमि है) सत्त्वगुण प्रधान है। स्वामाविक नियमानुसार जिसकी जैसी वृत्ति है उसके अनुसार उसके शरीर का वही अंश विशेष क्रियाशील है। साधक जब श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा अपनी मनोभूमि में प्रतिष्ठित होता है तब वह सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित होने के लिए सत्त्वगुण के ज्ञापक शुभ्र वर्णात्मक रूप में परमब्रह्म का दर्शन करता है। किन्तु जब वह मानस-स्तर के ऊपर उठ जाता है, ब्रह्म रन्ध्र में

निर्गुण ब्रह्म के सान्निध्य गुणराहित्य में समाहित होता है, तब वह वर्णातीत हो जाता है। भर्ग या शुभ्र वर्ण भी उस समय उनके पास नहीं रहता है। जो अकामी व्यक्ति इस परमपुरुष की उपासना करता है, उसका मन विषयमुक्त हो जाने के कारण फिर जन्म-प्रहण के लिए संस्कार (भव) अर्जन नहीं करता है। ये व्यक्ति पितृशुक्र का अतिक्रम कर जाते हैं अथवा विराट् सत्ता में अधिष्ठित होने के कारण उनकी मानसशक्ति नक्षत्रसमूह को भी अतिक्रम कर आगे बढ़ जाती है।

कामान् यः कामयते मन्यमानः

स कामाभिर्जायते तत्र तत्र

पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु

इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः

Kā mān yah kā mayate manyamā nah

Sa kā mā bhirjā yate tatra tatra

Paryā pta ka masya kṛitā tmanastu

Ihaeva sarve praviliyanti kā mā h

मनुष्य की वासना और कामना जैसी होती है अथवा जिन वृत्तियों से वह परिचालित होता है, उसका मन उसी रूप को ग्रहण करता है, वह क्रमशः उसी के अनुरूप संस्कार भी अर्जन करता है। मनुष्य जिस समय जो चाहता है उस वस्तु को पहले अपने मन में देखता है और उसकी मानस-सत्ता भी उसी ओर प्रवाहित होती है। तत्पश्चात् उसके हाथ पैर आदि बहिः-

कारणिक इन्द्रिय-समूह कार्य में प्रवृत्त होता है। इसीलिए साधारणतः देखा जाता है कि मनुष्य जीवन भर जिस प्रकार की वृत्ति को प्रभय देता है, मृत्यु समय वे ही वृत्तियाँ घनीभूत रूप धारण कर उनके सामने प्रकट होती हैं अर्थात् उनका मानस-धातु अपने को तद्रूप संस्कार के उपयुक्त प्रकाशक के रूप में गढ़ने के लिए अन्तिम समय तज्जातीय मानस-रूप परिग्रह करता है। जीवित अवस्था में भी देखा जाता है कि कोई शराबी जिसके मन में शराब पीने की उग्र इच्छा या संस्कार रहता है, उसका मानसधातु का यह विशेष रूप उसके परवर्त्ती संस्कार की मोग्यभूमि में परिणत होता है अर्थात् ऐसा व्यक्ति किसी नष्ट स्थान में जाने पर अर्जित मानस-वृत्ति की प्रेरणा से ही शराबखाना का संधान पा जाता है। जो मनुष्य आजीवन कुक्कुरीवृत्ति या शूकरीवृत्ति को अनुशीलन करता है, मृत्यु काल में वह कुत्ता या शूकर का ही मानस-रूप लेकर देह त्याग करता है। फिर रजोगुण की सहायता से वह कुत्ता या शूकर के संस्कार मोग के लिए कुक्कुर या शूकर योनि प्राप्त करता है। परम तपस्वी राजा भरत ने मृगशिशु की चिन्ता करते-करते देह त्याग किया था, पुराण कहता है इसलिए दूसरे जन्म में इन्हें हरिण का शरीर धारण करना पड़ा था।

किन्तु जो पूर्ण काम हैं अर्थात् जिनकी वासना और कामना निःशेष हो गई हैं उनके और किसी संस्कार के नहीं रहने के कारण परवर्त्ती काल में तज्जातीय कोई संवेदन की भी

सम्भावना नहीं रहती है। ऐसे व्यक्ति ही आप्तकाम हैं, ये ही कृतात्मा हैं। उस पूर्ण को, उस विराट् को बिना पाए पूर्ण-काम होना सम्भव नहीं है। अतएव जो पूर्ण काम हुए हैं, उनके समस्त संस्कार यही विलीन हो जाते हैं और वे जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर हो जाते हैं।

सृष्टि का क्रमविकाश जड़ से चेतन की ओर चलता है। मान लो, पत्थर का एक टुकड़ा है। वह कार्य नहीं कर सकता है। उसको मानस-संवेदन भी नहीं है। इसका कारण यह है कि उसके मन का विकाश ही नहीं हुआ है। मन के रहने पर ही तो उसका संवेदन भी रहेगा। तभी न वह क्रिया का रूप लेगा? पत्थर से चेतन वस्तु वृक्षों को देखो। इनमें क्रियाशीलता रहती है। ये बढ़ते हैं, मिट्टी से प्राण-रस आहरण करते हैं और अपनी देह में बीज की सृष्टि कर उसके द्वारा अपने वंश की रक्षा करते हैं, आघात और यत्न से दुःख तथा सुख का अनुभव करते हैं। हमलोग इनमें चैतन्य का विकाश देखते हैं, क्योंकि इनमें मन जाग उठा है। यह मानस विकाश के पथ पर अप्रसर होकर जिस सर्वोन्नत अवस्था में पहुँच गया है उसे हम मनुष्य में ही देखते हैं। इस अवस्था के ऊर्ध्व जो है वह देवत्व या ब्रह्मत्व है। ब्राह्मी चिन्ता के सूक्ष्म से स्थूल की ओर क्रमिक विकाश काल में सृष्टि का जैसे उद्भव होता है, ठीक उसी प्रकार स्थूल से उत्तरोत्तर सूक्ष्म की ओर, चैतन्यघन अवस्था की ओर चलते-चलते, सब से अन्त में जीव जहाँ से आया था,

फिर वहीं लौट जाता है। यह ठीक समुद्र की तरंगों के समान है, जहाँ से वे आगे बढ़ती हैं, फिर वहीं वे लौट आती हैं। लौटने की राह में मनुष्य को कितनी चेष्टा करनी होगी ? उसे देखते रहना होगा कि वह क्षुद्र स्वार्थ के धक्का से विपथगामी न होकर सहज भाव से अपनी गति की परिसमाप्ति अपने स्वरूप में कर सके। तभी उसे कृतात्मा कहा जायगा। तभी वह अन्तर और बाहर से ब्रह्ममय होगा।

ऐसा ही कृतात्मा होने के लिये कुछ तो चेष्टा करनी होगी। इसी चेष्टा को साधना कहते हैं। श्रेष्ठ साधना उसे कहेंगे जिसमें भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों ही हैं। मध्यम साधना वह होगी जिसमें भक्ति और कर्म यही दोनों हैं। अधम साधना उसे कहेंगे जहाँ केवल बड़ी-बड़ी बातें हैं (कर्म और भक्ति नहीं रहने पर अकेले ज्ञान भी नहीं रहेगा, जो रहेगा वह ज्ञान का जञ्जाल होगा) साधक की योग्यता उसकी लौकिक विद्या-बुद्धि द्वारा निर्धारित नहीं होती है। साधक की योग्यता का परिमाण उसके ज्ञान, भक्ति और कर्मनिष्ठा को देखकर ही होता है। ऐकान्तिक आप्रह को ही निष्ठा कहेंगे। “रसगुल्ला मीठा है” कहने से ही तो रसगुल्ला का स्वाद नहीं मिलता है। रसगुल्ला पाने या खाने के लिए कुछ तो चेष्टा करनी ही होगी।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

Nāyamātmā pravacanena labhyo,

Na madhaya na bahuna shrutena

Yamevaesā vrñute tena labhyastasya-

esā ātmā vivrñute tanū m svām

केवल बड़ी-बड़ी बातें करने ही से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पत्रा में लिखा रहता है कि इस वर्ष इतनी वृष्टि होगी किन्तु यह सुनकर ही तो किसान की फसल नहीं बची रह सकती है। पत्रा को निचोड़ने से एक वूँद पानी नहीं मिलेगा। ब्रह्म प्राप्ति के लिए, मन को तदमुखी करने की साधना करनी ही होगी।

अनुभूति बिना मूढ़ो वृथा ब्रह्मणिमोदते।

प्रतिबिम्बितराखाग्रकृतस्वादनमोदवत् (मैत्रेयी श्रुति) ॥

Anubhūtim binā mūdhō vrthā Brahman'imodate

Prativimbitashā khā graphalasvādanamodavat

(*maetreyii shruti*)

जिन्हें अनुभूति नहीं है वे लाख शास्त्राध्ययन करें या ब्रह्म के सम्बन्ध में भाषण देते जायँ, उनका ब्रह्म केवल पुस्तकगत ही रहेगा, वह अनुभवसिद्ध सुपरिचित ब्रह्म नहीं होगा। जैसे वृक्ष में लगे हुए मीठे फल का प्रतिफलन जल में देखकर कोई उन फलों का स्वाद नहीं पा सकता है। षड्दर्शनों में महापण्डित

मी यदि ब्रह्मसाधन से विमुख हों तो वे मी ब्रह्म से बहुत दूर रह जाएँगे। लौकिक विद्या में तुम कितने ही बड़े पण्डित क्यों न हो, ब्रह्म के सम्बन्ध में तुम कुछ मी नहीं जान सकते हो, क्योंकि तुम्हारी विद्या के साथ-साथ विद्या का एक अहं-कार मी तैयार होता जाता है, उसके फलस्वरूप छोटे में पर गुरुत्व देकर अथवा उसका भार बढ़ाते चलते हो। यह बोझ तुम्हारी मुक्ति का ही कारण होकर रहेगा, मुक्ति का नहीं। आचार्य शंकर ने कहा है—

वाक् वैखरी शब्दभरी शास्त्रव्याख्यानशौशलम् ।

वैदुष्यं विदुषां तद्वत् मुक्तये न तु मुक्तये ॥

*Va'k vaekharii shabdajhari shástravyá khyá-
nakaoshalam*

*Vaeduśyam viduśám tadvat bhuktaye na tu
muktaye*

ऐसे बहुत लोगों को देखोगे जो स्वयं साधना तो नहीं करेंगे, किन्तु उपदेश सुनने के लिए महापुरुषों के समीप दौड़-बौड़ कर जाएँगे। वे चरम-भ्रान्त हैं। केवल महापुरुषों के पीछे दौड़ने से कुछ नहीं होगा। स्वयं साधना कर ब्रह्म उपलब्धि में प्रतिष्ठित होना होगा। कौन कितना बड़ा वक्ता है और कौन कितनी किताबें पढ़ता है—यह सब देखकर परमात्मा किसी पर कृपा नहीं करेंगे। जिनकी निष्ठा है वे ही उनकी कृपा प्राप्त कर लेते हैं। परमभक्त महर्षि नारद ने कहा है—

“महद्कृपयैव भगवद्कृपाजेशाद्वा”

अर्थात् महत् व्यक्ति की कृपा अथवा परमब्रह्म की कृपा का कणमात्र पा लेने पर ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है। मान लो, कोई एक मेधावी बालक है। यदि उसके शिक्षक उसे लिखा-पढ़ी नहीं सिखाएँ, तब सचमुच उसमें विद्वान् होने की सम्भावना होने पर भी वह विद्वान् नहीं हो सकेगा। ठीक उसी प्रकार समस्त मनुष्यों में आध्यात्मिक उन्नति करने की या ब्रह्मभावना में प्रतिष्ठित होने की योग्यता या सम्भावना रहती है, किन्तु उपयुक्त पथ-निर्देशक के अभाव में यह वास्तव रूप नहीं ले सकती है। इसी के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। इसी के लिए उनकी कृपा की आवश्यकता है। उनकी कृपा भी तो भगवत् कृपा ही है, कारण वे परमब्रह्म कृपा-निधि हैं।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।

एतेरूपायैयतते यस्तु विद्वान्स्तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

Nā yamātmā balahiinena labhyo

Na ca pramāda'ttapaso vāpyaliun, gāt

Etaerupāyaeryatate yastu vidvā m'stasyaes a

A'tmā vishate Brahmadha'ma.

जो बलहीन हैं अर्थात् जिन्हें आत्मिक और मानसिक शक्ति नहीं है, उन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। भीरु, कापुरुष ब्रह्मभाव से दूर ही रहेंगे। तुमलोग देखते हो न कि घूसखोर

मिथ्यावादी मनुष्य यम-नियम मानने के भय से आनन्दमार्ग की निन्दा करते चलते हैं ।

साधकों का एक और बड़ा लक्षण है आत्मविश्वास । “मैं सिद्धि लाभ करूँगा ही”—यह दृढ़ विश्वास भी सिद्धि का प्रथम सोपान है ।

फलित्वतीति विश्वास सिद्धे प्रथम लक्षणम्

द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम् ।

चतुर्थो समताभावो पञ्चमेन्द्रियनिग्रहः

षष्ठञ्च प्रमिताहारो सप्तमं नैव विदते ॥ (शिवसंहिता)

Phalisyatititi vishvā sa siddher prathamalakṣ

anam

Dvitiyaṁ shraddhayaṁ yuktaṁ

trtiyaṁ Gurupūjanam

Caturtho samatābhāvo pañcamendriya nigrahah

S'as'th'ainaṁ ca pramitāhāro

saptamaṁ naeva vidyate.

(*Shiva Sam'hita*)

मैं सिद्धि लाभ करूँगा ही, जिसका मनोभाव ऐसा है, वह साधना से जरा भी उदासीन होकर नहीं रह सकता है । जागतिक कार्यो या जगत् से भागकर उदासीन रहने से भी काम नहीं चलेगा । क्योंकि ये सब मानसिक व्याप्ति-विशेष हैं । घर, द्वार छोड़कर जो हिमालय की पर्वत कन्दरा में रहकर ब्रह्मसाधना

करने की इच्छा रखता है, वह भी भूल करता है। सन्न्यास शब्द का अर्थ है सद्बस्तु को प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने को उत्सर्ग कर देना। ब्रह्म जब सब कुछ ही हैं तब तुम्हारे एक स्थान त्यागकर अन्य स्थान में जाने की सार्थकता ही कहाँ है ? जब जहाँ पर हो अपने चारों तरफ की वस्तुओं का उचित व्यवहार करते चलो। इसलिए समाज या परिवार से उदासीन रहना सम्पूर्णतया ब्रह्मसाधना का विरोधी है। लोगो को दिखलाने के लिए छिछला ज्ञान लेकर भी ब्रह्मबोध नहीं हो सकता है। ज्ञान जब सत्यनिष्ठा के द्वारा शक्तिशाली होगा तभी उसकी सहायता से ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। जिसका ज्ञान सत्यनिष्ठा युक्त है, केवल उसी का आत्मा ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो सकता है। संक्षेप में कहकर अप्रमाद, मानसिक और आत्मिक-शक्ति, दृढता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान एवं जागतिक व्यापार में वस्तु-समूह का यथोचित व्यवहार—इन कई गुणों के मिलित-भाव से रहने पर ही साधक अवश्य ब्रह्म के साथ आत्मैक्य की उपलब्धि कर सकते हैं।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः

कृतात्मानो धीतरागाः प्रशान्ताः

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा

युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।

Samprāpyaenamṛśayo Jñānatṛptāḥ

Kṛtātmāno viitarāgāḥ prashāntāḥ

*Te sarvagam sarvatah prāpya dhiirā
Yuktātmānah sarvamevavishanti.*

ऋषि शब्द का अर्थ है जिस साधक ने अपने में ब्रह्म को कर्षण किया है। साधक जब तक ब्रह्म को नहीं पाता है तब तक उसमें अपूर्णता की अतृप्ति रह जाती है। मान लो, तुम एक हजार रुपये चाहते हो। तुम्हें यदि एक हजार रुपये दे दिए जायँ, तो तुम क्या उससे तृप्त हो जाओगे ? नहीं, तुम तब और भी अधिक चाहोगे। मनुष्य के मन का धर्म ही है उसकी अनन्त पिपासा। वह सर्वदा बोलता रहता है—“मैं भूखा हूँ।” हजार की भूख लाख में रहेगी। लाख की भूख करोड़ में रहेगी। इसी तरह से भूख की मात्रा बढ़ती रहेगी जब तक कि तुम अनन्त परिमाण में रुपये नहीं पा लेते हो। यही अनन्तत्व ब्रह्म में निहित रहता है। इसलिए तुम्हारी भूख की तृप्ति ब्रह्म से ही होगी। इसीलिए ऋषि जब कृतात्मा होते हैं तब वे आत्मस्वरूप का दर्शन कर अपने राग-विराग के ऊपर चठकर प्रशान्त अर्थात् पुनरुत्थान-संस्कार-वर्जित हो जाते हैं। राग (आकर्षण) और विराग (विकर्षण) तभी तक रहते हैं, जब तक मोह और घृणा की वृत्तियाँ रहती हैं। जैसे शुचिवायु-प्रस्त साधक शराब को घृणित वस्तु मानकर उसको छूना भी पाप मानेंगे। शराबी उसे लोभनीय वस्तु मानकर ज्ञानशून्य होकर प्राणपन से उसकी ओर दौड़ेंगे। किन्तु, आत्मदर्शन के फलस्वरूप जो सचमुच वीतराग हो गए हैं, वे इन दोनों से ही

ऊपर रहेंगे। वे चिकित्सक के निर्देशानुसार औषध के रूप में शराब का व्यवहार करेंगे और फिर उसे यत्नपूर्वक लोगों से छिपाकर रख देंगे। शराब के प्रति उन्हें राग भी नहीं, विराग भी नहीं।

यदि तुम कन्याकुमारी जाओ तो वहाँ एक ओर बंगाल की खाड़ी में उठती हुई उत्ताल तरंगमालाओं को देखोगे और दूसरी ओर प्रशान्त अरब सागर। बंगाल की खाड़ी गहरी नहीं है अतः जितनी तरंगें हैं उतना ही गर्जन है और सुगभीर अरब सागर सुसमाहित होकर पड़ा हुआ है। उसी प्रकार जो ज्ञानतृप्त हैं, जो वीतराग हैं, वे प्रशान्त हैं। वे क्यों आत्मप्रचार करेंगे? किसके पास करेंगे? यह काम तो सुधारण मोहप्रभत लोग करेंगे जो प्रशंसा के भिखारी हैं। ब्रह्मप्राप्त व्यक्ति तो सब कुछ ब्रह्ममय ही देखेंगे और अनुभव करेंगे कि कुछ भी उनसे पृथक् नहीं है। जिन्होंने ब्रह्म में आत्मसमर्पण किया है, उन्हें और संस्कार का भय कहीं?

“अभयपदे प्राण संपेक्षि

आर कि शमन मय रेखेछि”

ब्रह्मज्ञ साधक ब्रह्म में ही अपने को विलीन कर देते हैं—मिला देते हैं। उन्हें और जन्म-चक्र में घूमना नहीं होता है।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा

देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।

कर्माणि बिज्ञानमयश्च आत्मा

परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

Gatāḥ kalāḥ pañcadasha pratis̥thā
Devāḥ sarve pratidevatāsu
Karmāṇi Vijinānamayashca ātmā
pare'vyaye sarva ekiibhavanti

मनुष्य का अस्तित्व षोडशकला युक्त है। जब तक मनुष्य को बहिर्मुखी वृत्ति रहती है, तब तक वे भौतिक जगत् से अपने सुख की सामग्री खोजते रहते हैं और तब तक उन्हें इन सोलहों कलाओं से बाहर जाने का उपाय नहीं है। दश इन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय) पञ्च-प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच अन्तर्वायु; नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय—ये पाँच बहिर्वायु; कला के अन्तर्गत नहीं हैं, क्योंकि ये अन्तर्वायु-समूह के परिणाम हैं) और अहंत्त्वं—ये ही षोडश कलाएँ हैं। तद्गत भाव से साधक की पञ्चदश कलाओं का भाव उन सबों के मूलकारण में मिल जाता है। † देवता अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिदेवता (नियन्त्रक-शक्ति) में अन्त में लीन हो जाती है।

इम सुविशाल ब्रह्माण्ड में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की

† मनुष्य-शरीर की असंख्य नाड़ियों में तैंतीस नाड़ियाँ प्रधान हैं ।

जो अनिर्वचनीय लीला चल रही है, उस लीला-उच्छ्वल प्रत्येक भाव के पीछे एक-एक विशेष शक्ति का स्फुरण रहता है। इसी शक्तिसमूह को हम देवता कहते हैं। इसीलिए भूमादेह में लीलायित प्रत्येक शक्ति ही अणुभाव से इस मानवशरीर को सञ्चालित एवं नियन्त्रित करती है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग की एक-एक विशेष क्रिया या भाव के साथ वही एक-एक शक्ति विशेष भाव से सम्बन्धित होकर रहती है। जिन दश इन्द्रियों द्वारा मनुष्य काम करता है, उन दश इन्द्रियों को चलाने के कारण ही इस शक्तिसमूह को इन्द्रियों का देवता कहा जाता है। देहान्त के पश्चात् मोक्षप्राप्त साधकों की प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने देवता में लीन हो जाती है। उनका कर्म एवं विज्ञानमय आत्मा

इन्हीं तैंतीस नादियों की नियन्त्रण-सत्ता को तैंतीस देवता कहा जाता है। ये हैं — एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, इन्द्र एवं प्रजापति। ब्रह्मशक्ति के प्रधान विकाश को इन्द्र देवता कहा जाता है। यही देवता मानव-शरीर का सामग्रिक भाव से नियन्त्रण करता है।

(क) एकादश रुद्र—दश इन्द्रिय और मन। रुद्र शब्द का अर्थ होता है जो रुलाता है। मृत्युकाल में जब प्रत्येक इन्द्रिय अपने प्रति-देवता में मिला जाती है, मन निष्क्रिय हो जाता है। मनुष्य का शरीर अचञ्चल एवं अस्पन्द हो जाता है, तब उस समय उसके आत्मीय-बन्धुगण कातरभाव से रोने लगते हैं। वही ग्यारह देवता मनुष्य को रुलाते हैं, इसलिए इन्हें रुद्र कहा जाता है।

(विज्ञानमय कोश में प्रतिष्ठित आत्मा), आत्मा (हिरण्यमय कोश में प्रतिष्ठित आत्मा), पञ्चदश कलाएँ एवं देवता-समूह के प्रतिदेवता (अणुदेह में जिन्हें देवता कहा जाता है, भूमादेह में उनके व्यापक भाव को प्रतिदेवता कहा जाता है) सब कोई ऐसे साधक की मृत्यु के पश्चात् परब्रह्म में लीन होकर एक हो जाते हैं अर्थात् मोक्षप्राप्त साधक जीवन-मरण के ऊर्ध्व स्थान प्राप्त करते हैं । वे अव्यय परब्रह्म के परम-पद से एकभूत हो जाते हैं ।

ब्रह्म के साथ साधकों के मिलन को एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है । जिस तरह नदी सम्पूर्ण रूप से अपना नाम और रूप त्याग कर समुद्र में मिल जाने के पश्चात् समुद्र के सिवा अगना अस्तित्व नहीं रख सकती है, साधक भी उसी

(ख) अष्ट वसु— वसु शब्द का अर्थ है जीवों का वासस्थान अर्थात् जो इन्द्रियों का आधार, आश्रयस्थल या विषय है—वही वसु है । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अन्तरीक्ष, व्योम, वायु, तेज एवं धरित्री ये आठवसु हैं ।

(ग) आदित्य—आदित्य शब्द का अर्थ होता है लेनेवाला । यहाँ जो कर्मफल और आयु ले लेता है । प्रत्येक क्षण आयु क्षय होती रहती है और कर्मफल भोग के लिये जीव को एक शरीर त्याग कर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है । ये समस्त काल प्रवाह के कारण होते हैं । इसीलिए समय या काल ही आदित्य है । कारण, काल ही मनुष्यों के कर्मफल और आयु ले जाता है । द्वादश मास ही द्वादश

प्रकार अपने को ब्रह्म में मिला देने के पश्चात् ब्रह्म के सिवा अपने को और कुछ समझ भी नहीं पाता, जान भी नहीं पाता ।

यथा नद्यःस्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

Yathā nadyah syandamā na'h samudre'-

stan' gacchanti nā maru' pē viha' ya.

Tathā' vidvā' nā maru' pā' dvimuktah

Parā'tparam' puruśamupacti divyam.

गंगा को देखकर कहा जा सकता है कि यह गंगा का जल है । उसी तरह कहा जा सकता है कि यह यमुना का जल है अथवा सरस्वती का जल है । किन्तु जब वे समुद्र में मिलकर उनके साथ एकाकार हो जाती हैं तब उस समय कौन गंगा का

आदित्य हैं ।

(घ) इन्द्र—इन्द्र शब्द का अर्थ—विद्युत्, वज्र या कर्मशक्ति है ।

(ङ) प्रजापति—प्रजापति शब्द का अर्थ है—यज्ञ या कर्म ।

कोई-कोई कहते हैं कि मनुष्य के शरीर की नाड़ियों की संख्या नहीं गिनी जा सकती है । कोई कहते हैं इनकी संख्या कई लाख है । कोई कहते हैं कई करोड़ है । ऐसा मालूम होता है कि उन लोगों ने गिनकर देखा है । कई कहते हैं नाड़ियों की कुल संख्या तैत्तिरीय करोड़ है । अतएव देवताओं की संख्या भी तैत्तिरीय करोड़ है । वस्तुतः मनुष्यों के शरीर नियन्त्रक स्नायु एवं नाड़ीपुञ्ज ही अविद्या और अन्धविश्वास के

जल है और कौन यमुना का, यह पहचाना नहीं जा सकता, पृथक् नहीं किया जा सकता। वे सभी वहाँ रहती हैं, परन्तु समुद्र की सत्ता में उनका नाम-रूप खो जाता है। ठीक इसी प्रकार तत्त्वज्ञ जब परमपुरुष (विराट् पुरुष) में मिल जाते हैं, उस समय उनका लुप्त अस्तित्व-बोध भी समाप्त हो जाता है और इस विराट् सत्ता के साथ एकात्म हो जाने पर वे भी विराट् हो जाते हैं। साधना आत्मप्रसार के लिए की जाती है, आत्मा के ध्वंस के लिए नहीं। इसीलिए समाधि का अर्थ आत्महत्या नहीं है, आत्मविस्तृति है।

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति
नास्या ब्रह्मविद् कुले भवति

फलस्वरूप नाना रूपों और नाना नामों से आज तैंतीस कोटि देवता में परिणत हो गए हैं। देवता के सम्बन्ध में शंकर कहते हैं—

“सर्वद्योतनात्मक अखण्ड चिदैकरसः।”

याज्ञवल्क्य कहते हैं—

द्योतते क्रीडते यस्मादुद्यते द्योतते दिवि ।

तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदेवतैः ॥

देवता दो प्रकार के हैं। आत्मा का प्रकाश इन्द्रियो के द्वारा होता है; अतः इन्द्रियसमूह को दैहिक देवता कहा जाता है और विश्व-ब्रह्माण्ड का प्रकाश और नियन्त्रण जिस देवता-समूह के द्वारा होता है, उन्हीं को ब्राह्मी-देवता कहा जाता है। दोनों की संख्या तैंतीस है। कारण, ब्राह्मी देवतागण प्रत्येक दैहिक देवता-गण के प्रतिदेवता हैं। ये दैहिक देवता गण प्रतिदेवता में लय होते हैं और प्रतिदेवता ब्रह्म में मिल जाते हैं। इसीलिए मोक्षप्राप्त साधक ब्रह्म ही हो जाता है।

तरति शोकं तरति पापानं
गुह्यग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति

*Sa yo ha vae tat paramam' Brahma Veda
Brahmaeva bhavati.*

Nā syā brahma vid kule bhavati.

*Tarati shokam' tarati pāpānam'
guhā granthibhyo vimukto' mrto bhavati.*

जिसने परमब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म हो गया। कारण जोव अपने विषय का ही रूप परिग्रह करता है। जिसका विषय ब्रह्म है वह मृत्यूपरान्त ब्रह्मलोक में जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मविद् के कुल में अब्रह्मविद् का जन्म नहीं होता। कु + ला धातु में ड प्रत्यय लगाकर कुल शब्द निष्पन्न होता है। कु शब्द का अर्थ पृथिवी है और ला धातु का अर्थ धारण करना है। पृथिवी जिसको धारण करती है, उसी का नाम कुल † है। मनुष्य वंश को पृथिवी धारण करती है, इसीलिए वंश को कुल कहा जाता है। इस जगह गुरु शिष्य के परम्परागत ब्रह्मसूत्र जिससे सृष्टि धृत होती है या जो सृष्टि से धृत होता है, उसी अर्थ में कुल † शब्द व्यवहृत

† कुल शब्द का तृतीय अर्थ जीवशक्ति है। मेरुदण्ड के निम्नांश को कुल कहा जाता है। कुल में अधिष्ठिता कुण्डलीभूता शक्ति को कुल-कुण्डलिनी कहा जाता है।

किया गया है और कहा गया है कि इसी कुलगतभाव से ही ब्रह्मविद्या रक्षित है। ब्रह्मविद् सर्व शोक के ऊपर चले जाते हैं—सब पापों के ऊर्ध्व चले जाते हैं। साधना के द्वारा साधकों की कुण्डलिनी शक्ति जब गुहाग्रन्थि (हृदय ग्रन्थि) भेद कर चली जाती है, उस समय वे मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं। शाश्वत काल के लिए वे मृत्यु के परे हो जाते हैं।

श्रुति में अन्यत्र भी कहा गया है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

Bhidyate hrdayagranthishchidyante

sarvasamśayaśh

Kṣīyante cāśya karmāṇī tasmīn dr̥ṣṭe

parāvare.

न स जीवो न च ब्रह्मा न चान्यदपि किञ्चन

न तस्य वर्णाः विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैवच — (पाशुपत ब्रह्म)।

Na sa jiivo na ca Brahmā na cānyadapi

kiin, cana

Na tasya varṇāśh vidyante nāśhramāśhca

tathāevach.

(Pāshuṣṭata Brahma)

इस अवस्था में उस मुक्त पुरुष को क्या जीव कहा जा सकता है ? जिस महापुरुष की गुहाप्रस्थि छिन्न हो गई है, संस्कार नहीं रहने के कारण जो ब्रह्म में लीन हो गए हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु महेश के भी ऊपर स्थान लाभ करते हैं । †

ब्रह्म किसी वर्ण से अन्तर्भुक्त नहीं हैं । उनकी चिन्ता वर्णात्मक है । चिन्ता की तरङ्गों में जो ध्वनि रहती है, उसके साथ वर्ण (रंग) रहता है । यह वर्ण या ध्वनिसमूह विशेष-विशेष गुणों का द्योतक है ।

† परमब्रह्म ही जगत् के स्रष्टा हैं और इस सृष्टि की रचना भी एक क्रिया है । जहाँ भी क्रिया होती है वहाँ ध्वनि भी होती है । प्रणव या ओंकार ध्वनि परमात्मा की इस सृष्टिकल्पना का शब्दमात्र है । अ, उ, म इन तीन अक्षरों में अ सृष्टि का बीज, उ स्थिति या पालन का बीज और म ध्वंम का बीज है । अ सृष्ट्यात्मक अक्षर है इसीलिए सृष्टिकर्म विशिष्ट ब्रह्म को ब्रह्मा (ब्रह्म + अ) कहा जाता है । मान लो, एक व्यक्ति का नाम रामबाबू है । उनका पुत्र उसे बाबूजी कहेगा और छात्र मास्टर साहब । ये सब रामबाबू की विशेष अवस्था के विशेष कर्मगत उपाधिमात्र हैं । वास्तव में रामबाबू तो एक ही व्यक्ति है । सगुण-ब्रह्म में सृष्टि, स्थिति और लय ये तीन प्रकार की प्रधान क्रियाएँ रहती हैं । ब्रह्म की मानसिक चिन्ताधारा से ही सृष्टि, स्थिति और लय ये तीन प्रकार की क्रियाएँ हो रही हैं; उनकी कल्पना शेष होने के साथ-ही-साथ इन तीन प्रकार की क्रियाओं का प्रकाश भी बन्द हो जायगा । जैसे, हमलोग जब मन-ही-मन भागलपुर की चिन्ता करते हैं, उस समय हमलोगों के मानस-पट में भागलपुर का सुस्पष्ट चित्र तैयार हो जाता है और जब भागलपुर

वर्ण	गुण	रंग
ब्राह्मण	सत्त्व	शुभ्र
क्षत्रिय	सत्त्व + रजः	रक्त
वैश्य	रजः + तमः	पीत
शूद्र	तमः	कुष्ण

ब्रह्म स्वयं वर्णातीत हैं। इसीलिए ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण या चतुराश्रमों के वे बाहर हैं। मानव-देह की त्रिकुटि में ही वर्ण का शेष और अवर्ण का आरम्भ है। इसीलिए अवर्ण होने के लिए साधना में प्रत्यक्ष या परोक्ष-भाव से त्रिकुटि को स्वीकार करना होता है।

की चिन्ता छोड़ देते हैं, उस समय वह चित्र भी मानसपट में ही विलीन हो जाता है। तत्पश्चात् यदि हम किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते हैं अर्थात् सर्वचिन्ता का परित्याग करते हैं उस समय मन का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। अतः ब्रह्मा, विष्णु और महेश, ये सब ब्रह्म की ही विभिन्न मानसिक क्रियाओं के नाममात्र हैं। साधक मानसस्तर के उर्ध्व उठकर जब निर्विकार शुद्ध ब्रह्मलोक में स्थिति लाभ करता है, उस समय वह अवश्य ही इन तीन देव-ताओं की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त करता है। वही मनुष्य की स्वरूप-स्थिति है। वही भावातीत शिवावस्था है। परिचय पूछे जाने पर भगवान् शंकराचार्य ने इसीलिए कहा था —

मनोबुद्ध्यहङ्कारोचित्तानि नाहम्
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे
न व्योम-भूमिर्न तैजो न वायुः
चिदानन्दरूपो शिवोऽहं शिवोऽहम्

न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिने च ।

यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु ॥ (पाशुपत-ब्रह्म)

Na tasya dharmo' dharmashca na niś edho

vidhirnā ca.

Yadā Brahmātmakam sarvam vibhā ti

tata eva tu.

(*Pā shupata Brahma*)

ब्रह्मविद् के सामने धर्म-अधर्म का भेद ज्ञान नहीं रहता है । विधि-निषेध का भी भेद-ज्ञान नहीं रहता । उनके सामने जब सब कुछ ही एकाकार हो गया तो वे क्या ग्रहण करेंगे और क्या वर्जन करेंगे ! ब्रह्मविद् खाते-पीते, उठते-बैठते सर्वदा ब्रह्मसाधना में रत रहेंगे, ब्रह्मभाव में ही व्यस्त रहेंगे । उनके छोटे-बड़े सभी कार्य ब्रह्मार्पित ही होंगे । इसीलिए उनको स्वकृत कोई कर्मफल भी मोग करना नहीं होगा । शरीर उनके लिए यन्त्र मात्र है जिसके द्वारा प्रारब्ध मोग हो जाता है, किन्तु कोई नवीन कर्म या कर्मफल उनको स्पर्श नहीं करता ।

तदा दुःखादि भेदोऽयमामासोऽपि न भासते ।

जगत् जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मविद् ॥ (पाशुपत ब्रह्म)

Tadā duḥkhā di bhedo' yamā bhā so'pi na

bhā sate

Jagat jīvādirupena pashyannapi parātmavid

(*Pā shupata Brahma*)

सुख-दुःखादि का बोध मानसिक विकृति मात्र है। समाधि में पूर्ण साम्य आ जाता है। उस समय सुख-दुःख का आभास-मात्र भी नहीं रहता है रहती है केवल आनन्दवत्त मृच्छा ना।

इस सम्बन्ध में एक कहानी याद आ गई। नवद्वीप के एक पण्डित रामनाथ ऐसे मनुष्य थे कि उन्हें अपनी सुध-बुध नहीं रहती थी। नदिया के राजा ने आर्थिक सहायता की इच्छा से उनसे एकवार पूछा—“क्या आपनी कुछ अनुपपत्ति (अमात्र) है?” पण्डित उस समय तत्त्वलोक में डूबे हुए थे। उन्होंने अनुपपत्ति का अर्थ ज्ञान का अभाव समझा। अतः उन्होंने कहा कि—“हाँ, एक श्लोक के अर्थ को नहीं समझ सकने के कारण कुछ अनुपपत्ति हुई थी। परन्तु उसे अब मैंने समझ लिया।” तब महाराजा ने कहा—“नहीं, मैं आर्थिक अनुपपत्ति के सम्बन्ध में कह रहा हूँ।” रामनाथ ने राजा से कहा कि “देखिए इन घरेलू विषयों के सम्बन्ध में आप हमारी गृहिणी से पूछें।” अगत्या महाराजा ने उनकी पत्नी से पूछा। जिस तरह पति थे, वैसा ही उनकी पत्नी। उन्होंने स्पष्ट रूप से राजा से कहा कि—“देखिए, घर में चावल है ही और इमली के गाछ में पत्ते भी कम नहीं हैं। इमली के पत्ते का भोल उन ने बड़ा ही स्वादिष्ट मालूम देता है। अब हमें और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती है।”

इसीलिए कहता हूँ महत् आदर्श से अनुप्राणित व्यक्ति

जितना ही ऊपर उठता है. उसका सुख- दुःखादि बोध उतना ही कम होता जाता है। जादूगर पत्थर को कबूतर में परिणत कर देता है और कबूतर को पत्थर बना देता है। यह अद्भुत खेल है। जादू का यह खेल देख कर दर्शक स्तम्भित हो जाते हैं। परन्तु, जादूगर के पास किसी प्रकार का विकार नहीं आता। क्योंकि जादूगर जादू के अन्दर के कौशल को अच्छी तरह जानता है। दशक खेल देखकर अभिभूत हो जाते हैं। जादूगर भी खेल देखता है परन्तु वह अभिभूत नहीं होता। वह केवल खेल देखता है, इसलिए कि खेल ठीक हो रहा है या नहीं? यह जगत् भी उसी प्रकार एक जादू का खेल है। ब्रह्म-विद् यह खेल देखते हैं किन्तु उससे अभिभूत नहीं होते। जगत् जीवादि के बीच रहकर भी वे अनासक्त हैं। विषय भोगों के बीच रहकर भी वे निरासक्त हैं। महाप्रभु चैतन्य ने अपने प्रिय शिष्य को कहा था—

स्थिर हांइया गृहे जाह ना होव वातुल ।

क्रमे क्रमे पाय लोक भक्ति-सिन्धु-कूल ॥

मर्कटवैराग्य ना करो लोक देखाइया ।

यथागीति विषयभुञ्ज निरासक्त होइया ॥

अन्तरे निष्ठा करो बाह्य लोक व्यवहार ।

अवश्यइ कृष्ण तोमा करिवेन उद्धार—

(कृष्णदास)

न तत् पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति ।

धर्मधर्मित्व वार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥

(पाशुपत ब्रह्म)

*Na tat pashyati cidru'pam Brahmanastveva
pashyati*

*Dharmadharmiteva vartā ca bhede sati hi
bhidyate*

(Pāśhuṭa Brahma)

ब्रह्मविद् चैतन्यस्वरूप है। वे सब वस्तुओं का अथायथ भाव से समझने हैं। साधारण- बुद्धि-सम्पन्न मनुष्यों के लिए जल और बर्फ दो भिन्न वस्तुएँ हैं। जिन्हें कुछ भी ज्ञान है वे जानते हैं कि बर्फ जल का ही घनीभूत रूप है। ठीक उसी प्रकार जहाँ साधारण मनुष्यों के लिए कुम्भ और कुम्भकार, धर्म और धर्मी के बीच एक बड़ा भेद प्रतीत होता है, वहाँ मा ब्रह्मविद् अभेद-भाव हा देखते हैं। जगत् और ब्रह्म क्या दो पृथक् सत्ताएँ हैं? अथवा क्या वे अग्रथक् हैं? दोनों में क्या एक सत्य और दूसरा मिथ्या है? इन दोनों को भिन्नता सत्य है या अभिन्नता ही सत्य है? इस प्रकार का प्रश्न या भावधारा ब्राह्मीदृष्टिसम्पन्न व्यक्तियों के हृदय में जगती ही नहीं।

भेदाभेदस्तथाभेदोऽभेदः साक्षात् परात्मनः ।

नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥ — (पाशुपत)

*Bhedā bhedaṣtathā bhedo'bhedah sāksāt
parātmanah*

Ná sti svátmá tireken 'a svayamevá sti sarvadá
(*Páshupata*)

जगत् और ब्रह्म ये दो सत्ताएँ हैं या एक दूसरे से अभिन्न हैं—इस प्रकार का विचार ही बुद्धिपूर्ण है। ब्रह्मविदों का जगत् उन्हीं का विकास रूप अनुभूत होता है। वे समझते हैं कि हम ही सब कुछ होकर हैं। रामबाबू और श्याम-बाबू लौकिक दृष्टि से दो व्यक्त्त सत्ताएँ हैं। किन्तु, जानते हो, ब्रह्मा दृष्टि से वे भेद कैसा है, जिस प्रकार का भेद नर और मनुष्य, समुद्र और सागर, पत्नी और कलत्र में है। साधकों का दृष्टि में भेदभेद कुछ भी नहीं है। यदि मैं अपने मन में लन्दन की कल्पना करूँ तो मेरे मानसिक लन्दन और मुझमें सचमुच क्या कोई भेद है? वह तो मेरा ही विशेष मान-रूप मात्र है।

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसोगोचरम् ।

यत्तादद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥ —(पाशुपत)

Adhiṣṭhānamanāpamyama

vā unmanasogocaram

Yatladadreshyamagrā hyamagotram

rūpavarjitam.

(*Páshupata*)

उस समय ब्रह्मविद् अनुभव करते हैं कि ब्रह्मरूप में वे ही सब कुछ के प्रविष्टाता हैं—सब कुछ के प्राणविन्दु हैं। वे सम

भक्ते हैं कि ब्रह्माण्ड में वे अनुलनीय हैं। उनका उपमेय दूसरा कुछ भी नहीं है—“न तस्य प्रतिमा अस्ति।” दो तुल्य वस्तुओं के बीच में ही तुलना हो सकती है और तब तो ब्रह्म दो हो जाएँगे। इसलिये ब्रह्म अनुलनीय हैं। ब्रह्म वाक्य और मन के अतीत हैं। फिर भी चेष्टा करने पर उस अवाङ्मानसगोचर ब्रह्म का पाया जा सकता है। अपने अन्तर के अन्तरतम भाव देकर उनको छूना होगा। सम्बोध से ही उनका पकड़ना होगा। आत्मा में आत्मा को विलीन कर उनको पाना होगा। उनका शरीर पञ्चभौतिक सीमित सत्ता नहीं है जिसे आँखों के द्वारा देख सको। वे तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और विराट् से भी विराट् हैं। उनको देखने के लिये अविद्या के अन्ध-बन्धन को हटा कर ज्ञान का अञ्जन व्यवहार करना आरम्भ करो। नमक का पुतला यदि समुद्र मापने जाय तो वह भी समुद्र में गलकर समुद्र हो जायगा। उसी प्रकार, ब्रह्मविद् भी ब्रह्म को नापने के लिए ब्रह्म-समुद्र में डूबकर ब्रह्म ही हो जाते हैं—“ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।” ब्रह्म की चिन्ता करते-करते तुम भी ब्रह्म हो जाओगे। तैलपायिका (तेलचट्टा) पेशाबकीट की चिन्ता करते-करते पेशाबकीट हो जाता है। उनको स्थूल चक्षु से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। उनका कोई वंश परिचय नहीं है, रह भी नहीं सकता है, क्योंकि वे अज्ञ, अनादि और कारण-रहित हैं। वे रूप-वर्जित निराकार हैं। उनका रूप नहीं। क्योंकि रूप देने से ही सीमा की रेखा देनी होती है।

अनन्त ब्रह्म को रूप देकर, सीमित सत्ता में परिणत करने से वे ब्रह्म अर्थात् बृहत् नहीं रहते ।

अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥ (पाशुपत)
Acakṣuḥshrotramatyartham tadapāṇipadam
tathā

Nityam vibhum sarvagatam susūkṣmam ca
tadavyayam.

(Pāśhupata)

उनकी स्थूल आँखें नहीं, किन्तु वे अपनी प्रज्ञाघन आँखों में सब कुछ ही देखते हैं । उनको कान नहीं है, किन्तु वे प्रज्ञाघन कानों से सब कुछ सुनते हैं । उनके बाहर कुछ नहीं रहने के कारण उनकी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी नहीं, किन्तु वे अपनी कल्पना के द्वारा सब कुछ करते हैं । दृष्टान्तस्वरूप यदि तुम मन-ही-मन वृत्त की कल्पना करो, तब वृत्त का छाया-चित्र तुम्हारे मानसपट में अङ्कित हो जायगा और तुममें वृत्त देखने का बोध जगेगा । किन्तु वास्तव में क्या तुम्हारे अतिरिक्त वृत्त की कोई स्वतन्त्र सत्ता रहती है ? उसी प्रकार, वे (ब्रह्म) अपनी चिन्ताधारा द्वारा सब कुछ ही देखते, सुनते और करते हैं । वे नित्य हैं, वे त्रिकालातीत शाश्वत सत्ता हैं । उत्पत्ति और विनाश-रहित होने के कारण उनको विभु नाम से अभिहित किया जाता है । वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और सब

तरह अपचय-रहित हैं ।

ब्रह्मैवेदममृतं : : : : : चैव परात् ।

ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरं च ॥ (पाशुपत)

Brahmaevedamamrtani tatpurastād Brahmā

nandam paramam caeva pashcāt

Brahmā nandam paramam dakṣiṇe ca Bra-

hmā nandam paramam cottaram ca

(Pāshupata)

अमृतस्वरूप ब्रह्म हमलोगों के सामने-पीछे, दाहिने-बाएँ सर्वत्र हैं । उनको ओड़कर हमलोगों को कहीं जाने का उपाय नहीं है । हमलोग सम्पूर्ण-भाव से ही उनके द्वारा परिवेष्टित हैं ।

उमा सहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षीं तमसः

परात् ॥ — (कैवल्य)

Umā sahāyam parameshvaram prabhum tri

locanam nilakantham prashāntam

Dhyātvā muniḥ gacchati bhūtayonim samasta-

sākṣīm tamasah parastāt

(Kaevalya)

परम पुरुष उमा के साथ-ही-साथ रहते हैं । उमा शब्द का अर्थ प्रकृति है । इस प्रकृति और पुरुष का मिलित नाम ब्रह्म है । प्रकृति का प्रभाव जब पुरुष के ऊपर

पड़ता है, उसी समय ब्राह्मी-कल्पना का सूत्रपात होता है और इसी प्रकृति की क्रियाशीलता के फलस्वरूप प्रणव-ध्वनि ॐकार उद्गीत होता रहता है। किन्तु प्रकृति जब क्रियाशीला नहीं रहती है अर्थात् पुरुष प्रधान होता रहता है, उस समय वहाँ प्रणवध्वनि भी मृतबोधभूत हो जाती है। अ + उ + म इन तीन अक्षरों के सामान्य स्थान को परिवर्तन करके अ को अन्त में रखने से उमा शब्द निष्पन्न होता है। इसीलिए उमा-पति शब्द का अर्थ पुरुष है। प्रकृति के संयोग में ब्रह्म ही सृष्टि के कारण हैं, उनको विशेष अर्थ में ईश्वर भी कहा जाता है। ईश्वर शब्द का अर्थ नियन्त्रक है। ब्रह्म ही प्रत्यक्ष या परेक्षमात्र से इन्द्रिय और देवतासमूह के नियन्त्रक हैं। उनको प्रज्ञाघन आँखें दो नहीं—तीन हैं अर्थात् वे भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों के ही द्रष्टा हैं। वे नीलकण्ठ हैं अर्थात् सुविस्तीर्ण नीलाभ आकाशतत्त्व उन्हीं के कण्ठ स्तर में है। इसी सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर जो प्रथम विस्तार है, वह आकाशतत्त्व है। आकाश का रंग आपातदृष्टि से नीला है और वह शब्द वहन करने की क्षमता से युक्त है। इसीलिए ब्रह्म के लिए नीलकण्ठ अत्यन्त उपयुक्त विशेषण है। यह बण्ठ जीवों के बण्ठ के समान सीमित, रेखा-बद्ध कण्ठ नहीं है। सारी सृष्टि उन्हीं में रहती है, उनकी गम्भीरता अपरिमाण्य है, इसीलिए वे प्रशान्त हैं। मुनिगण मननशील व्यक्ति, उनके ध्यान, उनके मनन द्वारा सब भूतों के मूलभूत कारण में

उपनीत होकर अन्त में उन्हीं को पा जाते हैं। उनही प्रति-
ष्ठा समां अविद्याओ के ऊपर हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और
ज्योतिष्मान् हैं।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।

स एव विष्णु स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमा ॥

*Sa Brahmá sa shivah sendrah so'ksarah para-
mah svarát*

*Sa eva viś́ṇu sa práṇah sa ká lágnih sa
candrama*

वे ब्रह्मा हैं अर्थात् वे एक ही जब सृष्टिकार्य में लिप्त होते
हैं तब ब्रह्मा नाम से अभिहित होते हैं। शिव व चैतन्यरूप
में वे ही जगत् के सारे कार्यों के साक्षीसत्ता हैं; इस ब्रह्माण्ड
के वे ही इन्द्र हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं। वे अव्यय हैं अर्थात्
अपचय-रहित हैं। वह विराट् “वे अपनी ज्योतिसे” ज्यो-
तिष्मान् हैं— “स्वरूपेण राजते इति स्वराट्”। व्यापनशीलता
के कारण उन्हें विष्णु कहा जाता है। उन्हीं की सत्ता से
सब सत्ताबान् हैं- इसीलिए उन्हें प्राण कहा जाता है। अफुरन्त
ध्वंस-शक्ति के अधिकारी होने के कारण उन्हें कालाग्नि
कहा जाता है। हृदयाकाश में महत् बुद्धिरूप में वे ही भास्वर
हैं, इसीलिए उन्हें चन्द्रमा कहा जाता है। संक्षेप में कहा
जा सकता है कि जगत् के सारे कार्यों के बीच या बाहर जो
कुछ भी तुम सोच सकते हो या नहीं सोच सकते हो, वे सब

के- सब उन्हीं में स्थित हैं । शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध सब तन्मात्राओं के बीज वे ही हैं—अङ्कुर उन्हीं का स्फुरण है

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्य पन्था विमुक्तये ॥

*Si eva sarvaṁ yadbhūtaṁ yacca bhavyaṁ
sanātanam*

*Jñātvā taṁ mṛtyumatyeti nānya panthā
vimuktaye.*

इस विश्व में जो कुछ भी है सब वे ही हैं । सब वस्तुओं में जो कुछ भी है वे भी वे ही हैं । जो कुछ भी होगा, हुआ है, होना है, सब कुछ ही उन्हीं की सत्ता से विधृत है । उन्हीं के स्पन्दन से स्पन्दित है । उन्हीं की ध्वनि सहस्र धारों में प्रतिध्वनित होती है । उनकी वाणी ही विश्ववाणी है जो मृत्युलोक के जीवों को अमरत्व में प्रतिष्ठित करती है । उनकी वाणी ही जगत् का बीज है, अङ्कुर है, जगत् रूप में प्रतिभात फलवान् वृक्ष है । इज्जित में सेन्ट पॉल ने कहा है:—

“In the beginning was the word and the word was with God and the word was God.”

वेद में भी इस बिराट् ध्वनि, प्रणव या ॐकार का बहुत माहात्म्य कीर्तित हुआ है । करुणामय ब्रह्म इसी ॐकार के माध्यम से सभी शिष्याओं की मूल शिक्षा जगत् को देते चल रहे हैं । उनकी सृष्टि लीला के प्रत्येक पदविक्षेप में

उनका चिन्तन अथवा उनका ध्यान इन्हीं दो उपायों द्वारा मनुष्य उस परमब्रह्म को पहचान कर शाश्वत काल के लिए मृत्यु का अतिक्रम कर जाता है। उसके समस्त दुःखों की अत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है।

कृष्णनाम मजो जीव आर सब मिछे ।

पलाइते पथ नाई यम आछे पीछे ॥

अधिक भाद्र पूर्णिमा, १९५५ ।

वेद में ब्रह्म-विज्ञान

(चार)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धस्य विषयासङ्गिमुक्तोनिर्विषयं तथा ॥

*“Mana eva manusyānām kāraṇam bādhā-
amokṣayoh*

*Bandhasya viśaya saṅgimuktonirviśayanī
tathā.”*

मन के अस्तित्व के लिए विषय की आवश्यकता है। क्योंकि विषय ही मन की जीविका है। मन जब तक विषयों को लेकर रहता है तभी तक उसका अस्तित्व है। निर्विषय होने के साथ ही साथ उसका अस्तित्व भी नश्वर हो जाता है। व्यष्टि-मन इन्द्रिय-समूह की सहायता से चारों-तरफ की खण्ड वस्तुओं को अपने विषय या जीविकारूप में ग्रहण करता है। खण्ड-सत्ता-जीव अखण्ड अनन्त किसी वस्तु की धारणा नहीं ले सकता है। ब्रह्म ही एकमात्र अखण्ड वस्तु हैं। शेष सभी सृष्ट वस्तुएँ खण्ड हैं और उनमें से प्रत्येक ही मानसभूमि के

अधिकारभूत हैं। मान लो, हिमालय पर्वत है। मन यद्यपि इसकी भी धारणा करने में असुविधा अनुभव करता है, किन्तु यह विशाल सत्ता भी तो अनन्त नहीं है, खण्ड है। इसीलिए उसको अनायास ही मानचित्र के माध्यम से मन का विषय बना लिया जा सकता है। किन्तु अखण्ड-सत्ता ब्रह्म के लिए हम तो कोई मानचित्र या पट नहीं बना सकते। किसी मूर्ति के द्वारा उस सत्ता को हमें दिशाओं में बाँध नहीं सकते। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है - 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' मन इस अखण्ड ब्रह्मसत्ता की धारणा कर नहीं सकता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि मन द्वारा विधृत प्रत्येक विषय ही दशों दिशाओं में सीमित रहता है और जो सम्पूर्णतया अनन्तभाव का परिपन्था है।

ब्रह्म को पकड़ना जब मन के लिए साध्यातीत है, तब उनको मनुष्य किस प्रकार पा सकेगा? साधना के फलस्वरूप मन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म एवं जड़ से भाव की ओर अग्रसर होता है। उस समय क्रमशः उसकी खण्ड मानससत्ता अलक्ष्य रूप से हिरण्यगर्भ में आत्मसमर्पण करती जाती है। जब यही आत्म-समर्पण चरम-अवस्था पर पहुँचता है उस समय उसके व्यष्टिमन (राम, श्याम, यदु एवं मधु बोध आदि) की सम्यक् निवृत्ति हो जाती है। रह जाती है केवल उस विराट् पुरुष की विराट्-मानस-सत्ता। इसी को सविकल्प-समाधि कहते हैं। इस प्रकार हमलोग देखते हैं कि विराट् मानससत्ता में अणुमन का आत्म-

समर्पण ही साधना की पहली और अन्तिम बात है। उसी प्रकार इस अणुमन को जब विराट् चैतन्यसत्ता में उत्सर्ग किया जाता है, उसके फलस्वरूप केवल मायाधीश एक निगुण सत्ता रह जाती है। उसी को हमलोग निर्विकल्प-समाधि कहते हैं। इस साधना में भी पहली और अन्तिम कथा आत्मसमर्पण ही है—

अणुमन के लिए ब्राह्मी सत्ता अचिन्त्य है।

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।
तथादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥

*Acintyamavyaktamanantarūpam śhivenīpras-
hāntamamrtam Brahmayonim
Tathādimadhyāntavihiinamekanī Vibhum
cidānandamaruṣpamadbhūtam."*

वे अचिन्त्य हैं, कारण वे अणुमन की चिन्ता-भूमि के बाहर हैं। वे क्या केवल अचिन्त्य ही हैं? अचिन्त्य के साथ-साथ वे अव्यक्त भी हैं। अव्यक्त हैं क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि द्वारा इन्द्रियाँ उनको ग्रहण भी नहीं कर सकतीं। कोई कितना भी बड़ा क्यों न हो, शब्द स्पर्शादि गुण जिसमें रहते हैं इन्द्रियाँ उसको ग्रहण कर ही लेती हैं। वे अरूप हैं, क्योंकि अनन्त को तो हम कोई रूप नहीं दे सकते हैं। तब यह जो परिदृश्यमान जगत् है, यह क्या उनका रूप नहीं है? इस परिदृश्यमान जगत् के अनन्त संहत्यक रूप उन्हीं के मानसिक िकाशमात्र हैं। अणु-मन के विषय रूप

में उनकी मानसभूमि में अणुसत्ता की ही सृष्टि होती है और ब्रह्म जो अनन्त-मानस हैं, उनकी कल्पना से क्षुद्र बृहत् अनन्त संख्यक खण्ड सत्ताएँ सृष्ट होती रहती हैं। आपातदृष्टि से परिदृश्यमान जगत् में यही उनका रूप है। किन्तु उनके मानस-प्रवाह का यह जो रूप, बुद्बुद् रूप में उठता है, बनता है और टूट जाता है, यह कोई चरमसत्ता नहीं है। ये तो दैशिक, कालिक, पात्रिक परिवर्तनों के बीच होकर कल्पनाचक्र के मध्यमणि उस विराट् भाव में मिल जाने के उद्देश्य से आगे बढ़ते जा रहे हैं। इसीलिए ब्रह्म के इस जगत् रूपी विकाश के किसी एक रूप को हम स्थायी मानकर जकड़कर रख नहीं सकते हैं। उनका कोई रूप कितना ही मनमोहन क्यों न हो वह एक दिन हमारे सामने से दूर हट जायगा। हमलोगों को रुलाकर, काल के हाथों में पड़कर, हमलोगों को छोड़ किसी अदृश्य लोक में चला जायगा। इसलिए उनका कोई खण्डरूप हमलोगों को शाश्वत शान्ति, वास्तविक आनन्द नहीं दे सकता है। अनन्त का अनन्त विकशित रूप देखकर साधक हतवाक् हो जाते हैं। श्रीराधा कहती हैं—

सखि की पूछसि अनुभव मोय

सोई पिरंति अनुराग बखानित

तिले तिले नूतन होय

जनम अवधि हम रूप नेहारलुँ

नयन न तिरपित भेल

सोह मधुर बोल श्रवणहि सुनलुँ
 श्रुतिपथे परश ना गेल
 कन मधुयामिनी रममे गँवायलुँ
 ना बुभलुँ कैसन केलि
 लाख लाख युग हिये हिया राखलुँ
 तबु हिया जुड़न ना गेलि
 कत विदगध जन रमे अनुमगन
 अनुभव काहुनु ना पेल
 विद्यापति कह सो पिरिति बगवानि
 लाखे ना मिलल एक ।

वे शिवस्वरूप हैं । शिव शब्द का अर्थ है पुरुष ।
 कल्याण या मंगल स्वरूप अर्थ में भी शिव शब्द का व्यव-
 हार होता है । यही परमंगलस्वरूप के अर्थ में ही शिव
 शब्द का व्यवहार हुआ है । कारण, उनके मानसिक विकाश
 की यह सृष्टि वस्तु समूह कल्याण के उद्देश्य से ही नियो-
 जित है, परम-मंगल के निमित्त ही उत्सर्ग किया
 हुआ है । इसीलिए वे शिव हैं—मंगलमय हैं और कल्याण
 स्वरूप हैं । वे क्या हमें क्लेश देने के लिए दण्ड देते हैं ?
 नहीं, वहाँ भी हमारे प्रति उनकी मंगलच्छा रहती है ।
 हमलोगों के स्वभाव में संशोधन लाने के लिए दण्ड देने का
 मंगलमय विधान है । उनमें अविद्यादि मालिन्य दोष नहीं
 है । इसीलिए वे परम शान्त हैं—परम प्रशान्त हैं । अविद्या

रूपी धातु की ताड़ना से मानस-समुद्र में तरंगें उत्पन्न होती हैं। इससे उसकी समता, उसका शान्त भाव नष्ट हो जाता है। ब्रह्म-समुद्र में अविद्या का धक्का नहीं है, इसीलिए कोई तरंग भी नहीं है। अविद्या-सृष्टि अहङ्कार जहाँ जितना अधिक है, वहाँ तरंग का उच्छ्वास भी उतना ही अधिक है। सतर्कता के साथ विचारने से पता चलता है कि उसमें ज्ञान की गम्भीरता का अभाव भी उतना ही अधिक है। कन्याकुमारी के पास एक तरफ छिछले बंगोपसागर की तरंग-मालाओं को देखोगे, दूसरी तरफ अगाध, अथाह, शान्त समाहित अरब-सागर को। वे अमृत हैं अर्थात् विकृति रहित हैं। किसी वस्तु के ऊपर बाहर का प्रभाव या अन्य वस्तु के प्रभाव के बिना उसमें विकृति नहीं आ सकती है। दूध को दही बनाने के लिए उसमें दध्यम्ल (जोरन) देना होगा। उनके बाहर किसी सत्ता के नहीं रहने के कारण एवं किसी अन्य सत्ता का प्रभाव नहीं पड़ने के कारण उन विकृत होने की सम्भावना भी नहीं है।

ब्रह्म शब्द का अर्थ है बृहत्, निर्विशेष। वे सबसे बड़े हैं—“बृहत्त्वाद् ब्रह्म”। क्या वे केवल बड़े ही हैं? उनकी भावना से सभी ब्रह्म होते हैं अर्थात् सब को ब्रह्म बनाने की क्षमता भी रखते हैं—“बृंहणत्वाद् ब्रह्म।”

वे ही समस्त वस्तुओं के मूलकारण हैं, क्योंकि मन ही-मन वे कल्पना कर जगत् की सृष्टि करते चलते हैं।

आदि, मध्य, और अन्त इन तीनों में कोई भी उनमें नहीं कारण वे अनन्त हैं । यदि आदि होते तो उनको हम अनादि नहीं कह सकते । यदि अन्त होते तो हम उन्हें अनन्त नहीं कह सकते । जिनका प्रथम और शेष बिन्दु नहीं हैं, उनका मध्य बिन्दु भी नहीं रह सकता । उनमें आदि मध्य और अन्त रहने में उनके अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता के रहने की सम्भावना रह जाती । ये सारी वस्तुएँ उनके आदि बिन्दु के पूर्व या शेष बिन्दु के पश्चात् रहतीं । ऐसी स्थिति में मन एवं इन्द्रियों की सहायता से उनको पकड़ लेना भी सम्भव हो जाता । कारण, ऐसी दशा में वे एक सामान्य पाञ्चमौलिक सत्ता मात्र होते । किसी एक पुतली को यदि हम भगवान् कहें तब उनके पैर के नीचे का तख्ता या चौकी और मस्तक के ऊपर मुकुट भगवान् के बाहर ही कोई दूसरी सत्ता है । इस पुतली को अनादि अनन्त कहना पागलपन है । कारण, उसमें हम आदि और शेष बिन्दु पाते हैं एवं इस पुतली को मन या इन्द्रियों द्वारा ग्रहण भी कर सकते हैं । ग्रहण करते हैं इसलिए कि यह वस्तु पाञ्चमौलिक उपादानों से निर्मित होती है—मिट्टी, पत्थर, धातु या काष्ठ द्वारा ।

सब कुछ उनकी मानसदेह में अङ्गीभूत रहने के कारण वे सब के नियन्ता हैं । वे चैतन्य स्वरूप हैं—आनन्दस्वरूप हैं ।

मन की प्रत्येक अनुभूति ही सुखात्मक होती है अथवा दुःखात्मक । मन जब किसी विषय या वस्तु में अधिक देर तक

फँसा रहता है उसी को हम सुख कहते हैं और जब किसी विषय या वस्तु में (स्वभावतया अपने विपरीत विषय या वस्तु) फँसकर रहना नहीं चाहता उसी को हम दुःख कहते हैं। मन जब सुख या दुःख कोई अनुभूति लेकर नहीं रहता है उस समय वह नश्वर हो जाता है। उस अवस्था में रह जाता है केवल एक विषय रहित आत्मा। उस समय आत्मा आत्मा के आनन्द से विमोह हो जाता है। इसलिए वे चित्स्वरूप हैं—आनन्दस्वरूप हैं एवं चिदानन्द हैं।

पहले ही कहा गया है कि अनन्त को कोई विशेष रूप नहीं हो सकता है। इसलिये वे अरूप हैं, निराकार हैं। परिदृश्यमान अनन्तसंख्यक-खण्डरूप तो वही अखण्ड अरूप के भीतर रहता है। भेद-दृष्टि से जहाँ अनन्त-संख्यक खण्डरूप रह जाता है, वहाँ अभेद दृष्टि से रह जाता है एकरूपातीत “ब्रह्म”। साधकप्रवर राम प्रसाद ने गाया है—

“त्यजिबो सब भेदाभेद
(ओ मा) घुचे जाबे मनेर खेद
शत शत सत्य वेद
तारा आमार निराकारा”

जो रूपविहीन हैं वह तो अवर्णनीय है। इसलिए उसको अत्याश्चर्य, अद्भुत छोड़कर और क्या कहेंगे ?

“सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

सम्पश्यन् ब्रह्मपरमं याति नान्येन हेतुना ॥”

*Sarvabhūtasthāmā tmā namī sarvabhū tāni
cā tmani
Sampashyan Brahmaparamamī yāti nā nyena
hetunā.'*

जो सर्व भूतों में—जड़ और चेतन में अपनी ही सत्ता को देखते हैं और सर्व भूतों को अपने में ही देखते हैं, वे ही ब्रह्म की उपलब्धि करने की योग्यता रखते हैं अर्थात् ब्रह्मोपलब्धि केवल उन्हीं के द्वारा सम्भव है। इस भूमादृष्टि के सिवा उन्हें और किसी उपाय से नहीं पाया जा सकता। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि किस तरह सर्व भूतों में अपने को एवं अपने में सर्व भूतों को देखा जाना सम्भव है।

“आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।

ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः॥”

*“Atmā namaraṇīm kṛtvā prañavain cottarā
raṇīm
Jñānanirmathanaḥ bhyā sāt pāśham dahati
paṇḍitah.”*

अपने को अरणि रूप में और प्रणव को उत्तरारणि के रूप में व्यवहार कर ज्ञान के द्वारा निर्मथन (युक्ति की सहायता से विलाइन कर) कर पण्डित व्यक्ति पाशसमूह को दहन करें।

अरणि शब्द का अर्थ यज्ञ के लिए व्यवहार में आने वाली मन्त्रपूत लकड़ी है। प्राचीन काल में लोग लकड़ी से लकड़ी घर्षण

कर अग्नि उत्पादन करते थे । मूल लकड़ी को अरणि कहा जाता था और जिस लकड़ी द्वारा घर्षण क्रिया की जाती थी उसे उत्तरारणि कहा जाता था । अरणि उत्पन्न होने की जगह को अरण्य कहते थे जो उस समय के ऋषियों की उपासना का क्षेत्र था । यहाँ इस रूपक द्वारा अपने आत्मा को अरणि रूप में व्यवहार करने को कहा गया है । किन्तु ब्रह्माग्नि प्रज्वलित करने के लिए इसको एक और उत्तरारणि द्वारा घर्षण करने की आवश्यकता है । यहाँ पर यह उत्तरारणि ही प्रणव है । प्र पूर्वक नु धातु में अल् प्रत्यय लगाने से प्रणव शब्द निष्पन्न होता है । नु धातु का अर्थ उपासना करना है अर्थात् जिसके द्वारा प्रकृष्ट उपासना होती हो उसे ही प्रणव कहते हैं । ॐकार मन्त्र ही प्रणव है । इस प्रकृष्ट उपासना के संपर्क से आत्मा में ब्रह्मभाव प्रकट हो उठता है । तुमलोगों में से बहुत लोग जानते हो कि स्थिर चित्त से ॐकार ध्वनि सुनते-सुनते मनुष्य समाधिस्थ हो जाता है, ब्रह्मभाव में समाहित हो जाता है ।

मैं सब कुछ में हूँ । मेरा मैंपन जगत् में परिव्याप्त है । इसी तरह की भावना-भूमि में प्रतिष्ठित होने को ही ज्ञान कहा जाता है । इस विराट ज्ञानभूमि में युक्ति द्वारा विलोड़न करते-करने अर्थात् युक्ति द्वारा समझते-समझते कि सचमुच मैं पारमार्थिक विचार से जो कुछ भी है, सब ब्रह्म है और मैं ही सब कुछ हूँ, बार-बार इसी भाव का अभ्यास करते-करते (जिसकी सार्वतम पद्धति तुमलोगों की साधना के प्रारम्भिक स्तर में ही सिखाई जाती है) आत्म-रूप अरणि में प्रणव रूप

उत्तरारणि के संस्पर्श से ब्रह्माग्नि की उपलब्धि होती है अर्थात् शुक्ति द्वारा यह विलोड़न ही अरणि-उत्तरारणि की घर्षण-क्रिया है। हृदय में इसी ब्रह्माग्नि के प्रज्वलित होने के साथ-साथ मनुष्य का मन भी पाशमुक्त हो जाता है। पाश शब्द का अर्थ है—बाँधने की डोरी। पाश आठ प्रकार के हैं—

“घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्साचेतिपञ्चमी
कुले शीलञ्चमानञ्च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ।”

*Ghrṇā śhaṁkā bhayaṁ lajjā jugupsā ceti
painaṁcamii
Kulaṁ shiilaṁ camāṁ namā ca aśṭāo pāśāḥ
prakīrtitāḥ*

इन पाशों को जो दग्ध करते हैं वे ही समाज में पण्डित कहे जाते हैं अर्थात् ब्रह्मोपलब्धि या सविकल्प-समाधि होने के साथ-साथ मनुष्यों के मन से पाश दूर हो जाते हैं। सविकल्प समाधि-काल में साधक के मन में “मैं ही ब्रह्म हूँ” केवल यही भाव रहता है। संस्कृत भाषा में “मैं ही ब्रह्म हूँ” इस भाव को पण्डा कहा जाता है। जिनके पास पण्डा है, वे ही पण्डित हैं।

“अहं ब्रह्मास्मीति बुद्धिःतामितः प्राप्तः पण्डितः ।”

*Ahaṁ Brahmāsmiiti Buddhitāmitaḥ
prāptah paṇḍitaḥ.*

यदि “ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम्” हैं, तब उनमें विकृति किस

प्रकार होती है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है और उत्तर भी सहज है । विकृति प्रकृति के कारण होती है और वह विकृति भी ब्रह्मदेह के अभ्यन्तर में ही है—इसके बाहर नहीं । अतः चरमदृष्टि से उनका एकत्व अनुकरण ही रह जाता है । अणु-जीव ब्रह्म-मन के एक-एक क्षुद्र अंश को अधिकृत कर लेता है और ब्रह्ममन में ही आगे बढ़ता है, उनमें इस क्षुद्रता की चेतनता भी है । यह क्षुद्रता-बोध ही उनका जीवत्व है । साधना है इसी क्षुद्रत्व की बेड़ी को तोड़ डालने की प्रचेष्टा और बेड़ी जब टूट जाती है तब उसे सिद्धि कहेंगे ।

क्षुद्रतायुक्त अणुजीव और अपरिमाण्य विराट्ब्रह्म दोनों के बीच प्रकृति के प्रभाव से तीन अवस्थाएँ रह सकती हैं । इन तीन अवस्थाओं के नाम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति हैं । इन तीन अवस्थाओं में कोई भी चरम अवस्था नहीं है, कारण ये तीनों ही सत्त्व, रजः और तमोगुणात्मक प्रकृति के प्रभाव के सृष्ट हैं । इन तीनों अवस्थाओं में आपातदृष्टि से ब्रह्म और जीव पृथक् रहते हैं, किन्तु चतुर्थावस्था जिसे तुरीय या कैवल्य कहा जाता है, उसमें प्रकृति का प्रभाव नहीं रहने से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं । दोनों का ही एकात्मभाव रहता है । सृष्टि जाला में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं, क्योंकि सत्त्व, रजः और तमः इन्हीं तीन गुणों से ही न प्रकृति की सृष्टि हुई है ? विराट् पुरुष पर जब सत्त्वगुण का प्रभाव अधिक पड़ता है उस समय उनको क्षीराब्धि या क्षीरसमुद्र कहते हैं । अणुजीव

की इसी अवस्था को जाग्रत अवस्था कहते हैं। साधारणतः लोग यह समझते हैं कि इसी जाग्रत अवस्था में ही केवल ज्ञातृत्व रहता है। लेकिन यह बात ठीक नहीं है। स्वप्निक और सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञातृत्व रहता है। इस सम्बन्ध में बाद में और कुछ कहूँगा।

प्रकृति के प्रभाव से ब्रह्म का जो अंश ज्ञेय अर्थात् विषय में परिणत होता है उसको क्षर कहते हैं अर्थात् जिसमें विकृति आ गई है। ब्रह्म का जो अंश स्वयं विकृत नहीं होता एवं जो क्षर के ज्ञाता रूप में विकृति के साथ प्रत्यक्ष भाव से जुड़ा रहता है उसको अक्षर कहते हैं। यह अक्षर क्षर के साथ ओतप्रोत भाव में मिला रहता है। ब्रह्म का जो अंश क्षर में नहीं, अक्षर में नहीं और जो ब्रह्मचक्र के प्राणकेन्द्र या मध्यबिन्दु या महाबिन्दु रूप में सशरीर स्थित रहता है, वही इस ज्ञेय क्षर और ज्ञाता अक्षर इन दोनों का ही नियन्ता है। वे किभी के कर्म एवं कर्म-फल के साथ प्रत्यक्ष भाव से जड़ित नहीं है। उन्हीं को परमात्मा या पुरुषोत्तम कहते हैं।

“क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मना विशते देव एकः
तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते
विश्वमाया निवृत्तिः ॥

*Kśāramī pradhānamamṛtā kśāramī harah
kśaratmanā vishate deva ekah
Tasyābhidhyānāt yojanāt tattvabhāvāt
bhūyashcānte vishvamāyā nivṛtīh.”*

इस पुरुषोत्तम के लिए नारायण शब्द भी व्यवहार किया जा सकता है। नार शब्द का अर्थ प्रकृति है (भक्ति या जल के अर्थ में भी इस शब्द का व्यवहार है) अयन शब्द का अर्थ आश्रय है। अतः जो प्रकृति का आश्रय है, उसी पुरुषोत्तम के लिए नारायण शब्द व्यवहृत होता है। पुराण में कहा गया है कि नारायण क्षीरसमुद्र में शयन किए हुए हैं, लक्ष्मी उनकी पदसेवा कर रही हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रह्मा की जाग्रत अवस्था को ही क्षीरसमुद्र कहते हैं। नारायण अर्थात् पुरुषोत्तम शयन किए हुए हैं। क्योंकि वे ज्ञानशाली हैं, उन्हें कुछ करना नहीं है (उन्हें कुछ करने के लिए है भी नहीं, केवल भाव लेना है। “पुरे ते ते यः स पुरुषः।” लक्ष्मी पदसेवा करती हैं अर्थात् पराप्रकृति इस पुरुषोत्तम की अधीन होकर रहती है। यह विराट् नारायण वाक्य और मन के परे हैं। इनकी मूर्ति दत्ताना पागलपन है।

बृहत् सत्ता में जब रजोगुण का प्रभाव पड़ता है तब उसको उस समय गर्भोदक कहते हैं। अणुजीव की इस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। विराट् पुरुष में जब प्रकृति के तमोगुण का प्रभाव प्रकट होता है, उस समय उसको कारणार्णव कहा जाता है। अणुजीव की इस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। ब्रह्मा की तमोगुणी अवस्था से ही जगत् सृष्टि का स्फुरण होता है। इसीलिए उस अवस्था को कारणार्णव या कारणसमुद्र कहा जाता है। कारण शब्द का अर्थ हेतु है और

अणुव शब्द का अर्थ समुद्र है एवं जो इस समुद्र के मध्यबिन्दु होकर रहते हैं वे ही पुरुषोत्तम हैं, जिनके चारो तरफ इस सृष्टिसमुद्र की तरंगराशि उद्दाम वेग से घूमती रहती है— क्षर और अक्षर की भीड़ दौड़ती रहती है। छोटे-छोटे मैं को केन्द्र बनाकर इस क्षराक्षर की भीड़ के मध्य में स्थिरप्रज्ञ बिश्वात्मक पुरुषोत्तम बैठे हैं।

जाग्रदवस्था में जीव भाव में “मैं” ब्रह्म से पृथक् रहता है। स्वप्नावस्था में यह पृथक्-बोध कुछ कम हो जाता है। निद्रितावस्था में और भी कम हो जाता है। निद्रितावस्था में छोटे मैं की छटपटाहट नहीं रहने के कारण एक विशेष प्रकार की स्थिरता का सुख या तामसिक आनन्द अनुभूत होता है। किन्तु स्वप्नावस्था में जहाँ मनका आभ्यन्तरीण क्रियामोग चलता रहता है, वहाँ अवश्य ही उतना सुख तो नहीं ही है वरन् नाना प्रकार की दुःखानुभूति भी होती रहती है।

“स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।

स्त्रियन्नपानादिविचित्रमोगैः स एव जाग्रत् परितृप्तमेति ॥”

Sa eva māyā parimohitātmā śharīramā

sthāya karoti sarvām

Striyanṇpānādi vicitra bhogaeh sa eva

jāgrat paritr̥ptimeti.

जीव जाग्रदवस्था में ही सब से अधिक क्यों अविद्या द्वारा प्रभावान्वित होकर रहता है ? उसके मन के अन्दर अष्टपाश-

और पड़रिपु रहने हैं और बाहर आकर्षणकारी प्रपञ्च । उसके मन की प्रत्येक क्रिया में इन्हीं भीतरी-बाहरी दोनों का ही प्रभाव पड़ता है । शरीर-केन्द्रिक वह स्त्री-अन्नपानादि अत्यन्त विचित्र विषय को अपना भोग समझ कर मन के अभ्यन्तरस्थ रिपु या पाश के प्रभावानुसार उनकी तरफ चला जाता है । साधक को इस बाह्यिक वस्तु-समूह के प्रलोभन से यत्नपूर्वक सतक रहना होगा—संयत रहना होगा । किन्तु यदि संयम की प्रतिष्ठा मन में दृढ़तापूर्वक न हो तो क्या संयम ऐसे सम्भव होगा ? लोगों को दिखाने के लिए शरीर में राख मलकर, साधु का वेश बनाकर, कमण्डल लेकर घूमने फिरने से तो वह सम्भव नहीं । उसके लिए बाहर इतने अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं । उसके लिए बाहर के साथ भीतर की समता रखकर भीतर की ही तैयारी करनी है । बाहर की परिस्थिति भी मनःशुद्धि के अनुकूल हो, इस पर भी एक नज़र रखनी होगी । जो व्यक्ति उच्च विचार रखता है वह यदि क्रमागत अमृत के साथ लिप्त हो जाए तो कुछ ही दिनों में उसका भी पतन हो जायगा । इसीलिए भीतर और बाहर की समता रखकर चलने की आवश्यकता है । आपदवस्था में यद्यपि मन ही शरीरकेन्द्रिक सुख का अनुभव करता है परन्तु उसका उपकरण बाहर से आहूत होता है । इसके फलस्वरूप उसके बाहर के जगत् का अभाव प्रकृत सुख पाने के लिए बाधक हो उठता है क्योंकि उसका मन बासना एवं कामना में जिस रूप से भोग्य वस्तु चाहता है सम्भव है बाहर

के जगत् में उस समय उतना भोग्य वस्तु पाया न जा सके। मन को इसीलिए दौड़धूर करनी पड़ती है। मन की चञ्चलता प्रकट हो उठती है और शान्ति नष्ट हो जाती है। स्वप्नावस्था में उसके पास बहिर्जगत् नहीं रहता। इसीलिए मन या इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्तियों के अभाव के कारण (यथार्थ विचार से यहाँ वृत्तियाँ अन्तर्मुखी भी नहीं हैं) सुख का परिमाण इस अवस्था में कुछ अधिक है। निद्रावस्था में मन की आभ्यन्तरीण क्रिया अत्यन्त कम हो जाती है इसलिए इस सुख का परिमाण (तमोगुणी सुख) और भी अधिक होता है।

“स्वप्ने स जीवो सुखदुःख-मोक्ता स्वमायया कल्पित-
जीव लोके।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतो सुखरूपमेति ।”

svapne sa jiivo sukhaduhk. a-bhoktā
svamāyayā kalpita jīvaloke

Susūptikāle sakale viliine tamo'bhībhūto
sukharūpameti

पूर्व ही कहा जा चुका है कि स्वप्नावस्था में अणुजीव सुख-दुःख अधिक परिमाण में भोग कर सकता है, क्योंकि उस अवस्था में बहिर्मुखी वृत्तियों के साथ बहिर्जगतिक किसी वस्तु के साथ संघात की कोई सम्भावना नहीं है। स्वभावतया इस स्वप्नावस्था में भी जीव ब्रह्म से पृथक् होकर रहता है, कारण वहाँ मोक्ता-भोग्य यह द्वैत भाव रहता है। जाग्रदवस्था से स्वाप्तिक भाव के साथ अन्तर यह है कि उस समय बाह्यिक पाञ्चभौतिक जगत् से कोई भोग्य उपकरण ग्रहण नहीं किया जाता है। जो कुछ भोग किया जाता है सब स्वयं लिप्त होते हैं।

साधारणतः हमलोग मन की तीन अवस्थाओं से परिचित हैं—conscious mind, sub-conscious mind और un-conscious mind जिनको चेतन-मन, अवचेतन-मन और अचेतन-मन कहा जाता है । इनका यथार्थ नामकरण काममयकोश, मनोमयकोश और कारण-मन होना उचित है । जाग्रदवस्था में तीनों स्तरों के ठीक होने से कल्पना-काल में (जो मनोमयकोश का काम है) कल्पित वस्तु सत्य प्रतीत नहीं होती, कारण इन्द्रियों की सहायता से पाञ्चभौतिक भोग्य-वस्तुओं के ग्रहण करने वाले काममयकोश के प्रभाव से जीव समझ पाता है कि मनोमय कोश की क्रिया सिर्फ कल्पना ही है । किन्तु स्वप्नावस्था में काममय समाहित होने के कारण बहिर्जगत् के साथ जीव का सम्पर्क छिन्न हो जाता है और उसी अवस्था में कल्पित भोग्य वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं । इसीलिये कहा गया है कि स्वप्नावस्था में जीव स्वकल्पित सुख-दुःख के मोक्ता रूप में रहता है ।

क्या स्वप्न भी कभी सत्य होता है ? बहुतों के मन में यह प्रश्न उठता है । जाग्रदवस्था में जीव जिस प्रकार की कल्पना करता है या क्रिया करता है उसका भाव उसके मनोमय कोश (अवचेतन-मन) में रेखायित होकर रहता है । जिस किसी अवस्था में ठीक तज्जातीय भाव या क्रिया से सम्बन्धित होने पर जीव पूर्व क्रिया की पुनरभिव्यक्ति या असम्प्रमोष द्वारा परवर्त्ती भाव, क्रिया या वस्तुओं के स्वरूप का निर्धारण कर लेता है ।

अननुभूत वस्तुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार मिला लेने का अवसर नहीं रहने के कारण अथवा कभी-कभी बहुत समय पहले की अनुभूत वस्तु के लिए इस रूप से मिलाने की असुविधा होने के कारण जीव परवर्त्ती वस्तु को नहीं पहचान सकता है। मिलाने में थोड़ी असुविधा होने से जैसे लोग बहुधा सोचते हैं — हाँ, यह चीज मानो उसी चीज के समान है। तब हो सकता है कि यह उसीका परिवर्त्तित रूप है। इस तरह सोचकर वस्तु को पहचान लेता है। इसको मनोविज्ञान की भाषा में प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। दृष्टान्त स्वरूप जिस तरह एक बारह-तेरह साल की उम्र के लड़के को देखा था। उस समय वह एक छोटा बच्चा था। फिर उसी बच्चे को १२ वर्ष बाद देखा। इस समय वह एक वयस्क युवक है। उसके चेहरे एवं अंग-प्रत्यंग में बड़ा अन्तर आ गया है। तौमी कुछ कष्ट करके अधिकांश क्षेत्र में उसे पहचान लेता हूँ और पहचानने के पूर्व मन-ही-मन चिन्ता करता हूँ कि वही १२ वर्ष का लड़का हो सकता है बड़ा होकर ऐसा दिखाई देता है। इसी को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। किन्तु दो रूपों का अन्तर अत्यन्त अधिक हो जाने पर प्रत्यभिज्ञा कुछ काम नहीं करती है। तब हम देखते हैं मनोमयकोश का सञ्चित भाव हमलोगों की दैनन्दिन जीवन-यात्रा में यथेष्ट सहायता करता है। आवश्यकता के क्षेत्र में इसका स्फुरण नहीं होने से लौकिक जगत् और चिन्ता-जगत् में हमलोगों को खूब असुविधा हो सकती थी। निद्रावस्था में पेट गर्म हो जाने के कारण वायु की उर्ध्व गति होने-से अथवा रोग में स्नायविक विकार प्रकट होने से प्रायः मस्तिष्क (मनोमयकोश) में आलोड़न

की सृष्टि होती है। हमलोगों का पूर्व कल्पित या पूर्वानुभूत विषय विच्छिन्न भाव से मनोमय कोश में पुनरुदित होता है। इसी को हम स्वप्न कहते हैं। सहज ही समझा जा सकता है कि इस प्रकार का स्वप्न केवल निष्फल ही नहीं होता, मस्तिष्क के विभिन्न अंशों में सञ्चित वस्तुओं का “पुनराविर्भाव मात्र” होने के कारण कथा भी सुशृङ्खल रूप में गुँथ नहीं जाती है। स्वप्न और एह प्रकार का भी होता है। मनुष्य का अतिमानसकोश सर्व ज्ञान का आधार है। बहुधा निकट भविष्य में घटनेवाली कोई बड़ी सुख या दुःखदायी घटना जो सर्वज्ञ कारण शरीर की गोचरी भूत है वह जो व्यक्ति उस सुख या दुःख के साथ गम्भीर भाव से जड़ित रहता है उसके सुनिद्रा काल में उसके मनोमय-कोश में सञ्चारित हो जाती है। इस प्रकार का स्वप्न हमेशा नहीं दिखलाई देता है। इस प्रकार का स्वप्न सत्य घटना का ही पूर्वाभास वहन करता है।

निद्रितावस्था में काममयकोश (Conscious mind) और मनोमयकोश (Sub-conscious mind) दोनों ही विश्राम करते हैं। केवल कारणमन (unconscious-mind) या (अतिमानस, विज्ञानमय और हिरण्यमयकोशों की समष्टि) काम करता है। घोरतमसाच्छन्न कारणमन सर्वज्ञान का आधार होकर भी सचमुच में अपने चारों ओर अन्धकार में पड़े हुए किसी विषय का वेत्ता होने में असमर्थ है। किसी भी कारण से क्यों न हो उस समय वह विषय का विषयी होकर भी

विषयी भाव धारण करने में सक्षम नहीं होने के कारण एक विशेष तृप्ति या एक विशेष सुख की स्थिति में रहता है। शोक दुःख एवं लाञ्छना से भी जिसका हृदय विदीर्ण हो रहा है वह भी निद्रितावस्था में सब कुछ भूलकर एक आराम की अवस्था में रहता है। यह आराम, यह सुख तमोगुणी (अज्ञता के कारण) सुख है। निद्रा ही एक ऐसी अवस्था है जिसके होने पर उसका अनुभव नहीं होता है, केवल उसके पश्चात् ही अनुभव होता है कि कुछ क्षण पूर्व हमारी एक विषयमुक्त अमावावस्था थी।

“अमावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा”—पातञ्जल

Abhāva, ratyayā lamvanā vrttirnidra.—

Patainjala.

निद्रित जीव ब्रह्म के कारणार्णव में समाच्छन्न रहने के कारण उसका अणुबोध सामयिक भाव से प्रच्छन्न हो जाता है। इसीलिए उस समय उसके आनन्द की मात्रा जाग्रदवस्था की अपेक्षा अधिक रहती है।

निद्रा और मृत्यु में अन्तर यह है कि मृत्यु के बाद स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये त्रैलोक्य के कार्य बन्द हो जाते हैं। निद्रा-काल में कारण-मनधारी देह में दश वायुओं की क्रिया विधित न होने कारण प्राणशक्ति ठीक ही रहती है, किन्तु मृत्यु में दश वायुओं की विकृति होने से एवं प्राण के शरीरत्याग करने के फलस्वरूप कारणमन कार्य बन्द कर देने के लिए बाध्य हो जाता है। स्नायुकोश या स्नायु तन्तु शक्तिहीन हो जाने के कारण

शरीर जड़वत् पड़ा रहता है। निद्रा और अचेतन अवस्था में अन्तर यह है कि निद्रा काल में स्थूल और सूक्ष्म मन (काम-मयकोश और मनोमयकोश) परिभ्रान्ति के बाद विश्राम करता है और अचेतन्य अवस्था में बाहर से किसी के आघात करने पर या मन के ऊपर कोई आघात होने पर काममय और मनो-मयकोश काम बन्द कर देने के लिए बाध्य हो जाते हैं। निद्रा सामयिक विश्रान्ति है। इसीलिए इसके बाद शरीर स्वस्थ मालूम होता है और अचेतन्य अवस्था में बलपूर्वक क्रिया बन्द रखने के कारण शरीर उसके बाद अत्यन्त दुर्बल मालूम देता है।

सविकल्प-समाधि और निद्रा में अन्तर यह है कि सविकल्प-समाधि में जैव-मन ब्राह्मी-मन के संग एकीभूत हो जाता है और उस समय वह ब्राह्मी-मन अनन्तसुख (आनन्द) पाता रहता है, कारण ब्राह्मी-मन के बाहर कोई भोग्यसत्ता नहीं रहने के हेतु बाहर की वस्तु के संग घात-प्रतिघात के फलस्वरूप ब्रह्म-मन की शान्ति के नष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। निद्रा और अचेतन्य अवस्था के समान सविकल्प में भी प्राणशक्ति ठीक ही रहती है एवं दैहिक कार्य अन्य जड़ वस्तुओं की तरह ब्रह्ममन के निर्देशानुसार नियन्त्रित होता रहता है। किन्तु शरीर का अभुक्त संस्कार जीव को अधिक काल तक इस ब्राह्मी-स्थिति में रहने नहीं देता है। प्रकृति का रजोगुण संस्कार भोग के लिए उसे जैवभाव में ले आता है।

निर्विकल्प-समाधि और सविकल्प-समाधि में अन्तर यह है

कि निर्विकल्प-समाधि में जैवमन निष्कल पुरुष में समाहित हो जाता है। इसलिए उस अवस्था में भोग-भोग्य-भोक्ता या ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता भाव नहीं रहता है। केवल एक अनभिव्यक्त आनन्दसत्ता रहती है जिसका भोक्ता आनन्द में आत्मविस्मृत होकर “क्या पाया हूँ, क्या पाता हूँ,” भूल जाता है। जीव की यह अवस्था अधिक समय तक नहीं रहती है। प्रकृति का रजोगुण अभुक्त संस्कार भोग के लिए उसे जैवभाव में ले आता है। इस जैवभाव में आने के बाद वह देखता है कि एक अज्ञातलोक से एक अफुरन्त आनन्द की उत्सधारा उसके मन को, प्राण को और उसकी सर्व सत्ताओं को प्लावित कर रही है।

“अभावोत्तरानन्दप्रत्ययालम्बनीवृत्तिर्तस्यप्रमाणम्”

—आनन्दमूर्ति

Abhāvottarānandaṣṭyayā lambanii

vṛttirtasyaṣṭyānām

—*A'nandamūrti*

अभाव बोध के बाद मन जब आनन्दस्रोत में आसुत होता है तब समझना चाहिए कि इसके पूर्व की तथाकथित अभावावस्था और कुछ नहीं निर्विकल्प समाधि थी (मन के नहीं रहने पर विषय नहीं था- इसीलिए वह अवस्था अभाव की थी) जिसका संस्कार बाकी नहीं है उसके सविकल्प या निर्विकल्प-समाधि के मंग होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी स्थायी सविकल्प का ही नाम मुक्ति है और इस स्थायी

निर्विकल्प का नाम मोक्ष। आनन्दमार्ग की साधना-पद्धति में तुमलोग इन दोनों को निश्चय ही अच्छी तरह समझते हो।

“पुनश्च जन्मातरकर्मयोगात् स एव जीवो स्वपिति प्रबुद्धः
पुरत्रये क्रीडति यस्य जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्
आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिन्ल्यं याति पुरत्रयञ्च ॥”

—अथर्व

*Punashca janmāntarakarmayogāt sa eva jiivo
svapiti prabuddhah*

*Puratraye kriidati yasya jiivastatastu jātam
sakalam vicitram*

*A'dhāramāṇandamakhandabodham yasminll-
ayam yāti puratrayam ca”*

—Atharva

सविकल्प और निर्विकल्प समाधि जिस कारण से टूटती है ठीक वही कारण से जितने दिनों तक अभुक्त कर्म फल रहता है उतने दिनों तक निद्रा भी भंग होती रहेगी। कर्म की प्रतिक्रिया का बीज कारण मन में सञ्चित रहता है। प्रकृति के रजो-गुण के प्रभाव से निद्रा शेष होने के प्राकाल में अबचेतन मन (मनोमयकोश) और प्रायः उसके साथ चेतन मन भी (काममयकोश) जग उठता है। इसी को हमलोग निद्रा टूटना कहते हैं। बहुधा नींद टूटने के समय मनोमयकोश जग जाता है किन्तु काममयकोश नहीं जगा रहता है। ऐसे समय जीव

अपने संस्कार के कारण स्वप्न देखता है। यह स्वप्न साधारणतः शरीरगत या रोगगत नहीं होने के कारण एवं इसकी पूर्वावस्था कारणमन में रहने के हेतु कभी-कभी सत्य हो जाता है। लोग इसीलिए कहते हैं कि शेष रात्रि का स्वप्न सत्य होता है।

प्रकृति के संयोग से पुरुष के जो तीन प्रकार के भाव या अवस्थाओं की सृष्टि होती है उन्हीं को त्रिपुर कहा जाता है। जीवभाव में यह त्रिपुर उसकी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ हैं। इन तीनों भावों के बाहर जो सान्नीत्यरूप शायित हैं वे हो आत्मा या पुरुष हैं। यह विचित्र जगत् (द्रश्यमान जगत्) पुत्रयात्मक भाव लेकर ही खड़ा है और जीवों के बीच काम करता चलता है। जीवों का भोग्य यही विराट् पुत्रययुक्त जगत् है जो क्षीराब्धि, गर्भोदक और कारणार्णव नाम से प्रसिद्ध है। उसकी सृष्टि परमपुरुष की कल्पना से हुई है - उन्हीं के सत्त्वगुण, रजोगुण, एव तमोगुणात्मक अभिमान के फलस्वरूप। इन तीन अवस्थाओं का जो आधार है उसी को चतुर्थ पुर कहते हैं। यह चतुर्थ पुर त्रिगुणातीत है। इसीलिये उनकी सत्ता देश-काल-पात्र के परिमाण के बाहर है - त्रिपुर के ऊर्ध्व है। इसी चतुर्थ अवस्था को निर्गुण, कैवल्य या तुरीय अवस्था कहा जाता है। अणुजीव का संस्कार जब तक बाधे रहता है तब तक वह भोग के लिये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों पुरों में विचरण करता है और साधना के फलस्वरूप जब

चह सर्व संस्कारों से मुक्त होता है उस समय वह त्रिपुर के बाहर तुरीयपद (परमपद) में समाहित होता है।

ओम् (प्रणव) या ओङ्कार चार वर्णों से युक्त मन्त्र है। वे हैं अ, उ, म और नाद बिन्दु। यही नाद बिन्दु चतुर्थ अवस्था अर्थात् निर्गुण सत्ता का द्योतक है। इसमें सत्त्व, रजः या तमः का कोई भी गुण स्फुट अवस्था में नहीं है। जीव भाव का 'अ' सत्त्वगुण प्राधान्य का द्योतक एवं जाग्रदवस्था का सूचक है। 'उ' रजोगुण प्राधान्य का द्योतक और स्वप्नावस्था का सूचक है। 'म' तमोगुण प्राधान्य का द्योतक तथा सुषुप्त्यवस्था का सूचक है। सगुणब्रह्म में अ, उ, म, यथा क्रम से क्षीराब्धि, गर्भोदक और कारणार्णव का सूचक है। बिन्दु चतुर्थ वा तुरीय अवस्था का द्योतक एवं निर्गुणब्रह्म का सूचक है।

A point has got position but no magnitude. निर्गुणब्रह्म के सम्बन्ध में हमलोग कुछ न तो कह सकते हैं और न सोच सकते हैं। केवल समझाने के लिए बिन्दु का व्यवहार किया गया है। निर्गुणब्रह्म वाचक (०) और सगुणब्रह्म वाचक ओम् एवं बीच में "—" चिह्न अव्यक्ता प्रकृति की व्यक्तावस्था में परिणति का ज्ञापक है।

जीव में जाग्रदवस्था के अभिमानी पुरुष को विश्व (दार्शनिक शब्द) वा विषयी पुरुष कहा जाता है। सर्व इन्द्रियों के द्वारा विषयभोग जाग्रदवस्था में ही यथायथ भाव से होने

के कारण इस अवस्था के पुरुष को विषयीपुरुष कहते हैं । जीवभाव में स्वप्नावस्था के अभिमानी पुरुष को तैजस और सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी पुरुष को प्राज्ञ कहते हैं । सगुणब्रह्म की क्षीराब्धि, गर्भोदक और कारणार्णव अवस्था के अभिमानी पुरुष को यथा-क्रम विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर (दार्शनिक शब्द) कहते हैं । अतएव हम देखते हैं कि 'अ' विश्व और विराट् का बीजाक्षर है, 'उ' तैजस और हिरण्यगर्भ का बीजाक्षर है और 'म' प्राज्ञ एवं ईश्वर का बीजाक्षर है । तुरीय अवस्था में जीवभाव और ब्रह्मभाव में कोई भेद नहीं है चूँकि "मैं हूँ" बोध नहीं है । इसी लिए इस अवस्था में कोई बीजाक्षर भी नहीं है । क्योंकि बीज, उत्पत्ति के कारण को कहते हैं । जहाँ उत्पत्ति, अनुत्पत्ति सृष्टि, स्थिति और लय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ बीज का भी प्रश्न नहीं उठता है । तुरीयावस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एवं ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक ही हो जाते हैं । इसीलिए जिसका वाचक नादबिन्दु है उसी परमपद को ईश्वरप्राप्त कहते हैं अर्थात् जिसमें ईश्वर भी प्रस्त हो जाता है । यह पुरत्रय निर्गुण में ही लीन हो जाता है । इसीलिए इसका नाम ईश्वरप्राप्त रखना अत्यन्त समीचीन है ।

यह परिदृश्यमान जगत् परमपुरुष का ही विकास है । पुरुष के ऊपर त्रिगुणों का प्रभाव जबतक रहता है तबतक

ही जगत् रहता है। साधक जब ज्ञाननिर्मथन और अभ्यास के द्वारा पुरत्रय को नस्यात् कर देते हैं, उनमें (जीवभाव में) और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता है। तुरीयावस्था में गुणराहित्य के कारण वस्तुगत भेद की सम्यक् निवृत्ति होती है।

“एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥”

“*Etasmā d jāyate prāṇo manah sarvendriyā
nī ca*

*Kham vā yujyotirāpashca prthvī vishvasya
dhārinīi.*”

यह सृष्ट जगत् ब्रह्म का ही संकल्प है। इसीलिए पञ्चभूतों के मिलन और विच्छेद के कारण जो प्राणशक्ति या प्राणवायु व्यष्टि-देह में क्रियाशील रहती है वह भी तो उन्हीं की कल्पित वस्तुमात्र है। मनुष्य प्राणशक्ति प्राथमिक स्तर में अपने माता-पिता की देह से आहरण करता है। तत्पश्चात् पाञ्चभौतिक उपादानों से संगृहीत माता के खाद्यान्न द्वारा रसरक्त-दिभूत परिणाम से और भूमिष्ठ हो जाने पर अपने ही खाद्य, पानीय प्रकाश और वायु द्वारा वह प्राणशक्ति ग्रहण करता है। अतः जीवों के प्राण के उत्स ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म जीवों के प्राणों के प्राण हैं। ('प्राण' शब्द जिस समय एकवचन होता है उस समय उसका अर्थ क्रियाशक्ति होता है। जिस समय बहुवचन

होता है उस समय उसका अर्थ जीवनीशक्ति या vital energy है) पाञ्चभौतिक विकास ब्रह्मकी मानसक्रिया का स्थूलतम रूप है, मानस-क्रिया-शक्ति की स्थूलतम अभिव्यक्ति है। इसीलिए इस पाञ्चभौतिक सत्ता से ही जीव को अपनी प्राणशक्ति आहरण करनी होती है। जीवदेह में प्राणशक्ति का विकास पञ्च अन्तर्वायु और पञ्च बहिर्वायु के माध्यम से होता है। प्राण, अगान, समान, उदान और व्यान इन्हीं पञ्च अन्तर्वायु के मध्य में नाभि और कण्ठ के मध्य स्थित 'प्राण' फुसफुस, हृत्पिण्ड आदि की कार्यधारा को परिचालित करता है। नाभि के निम्न देश में रहनेवाला 'अपान' मल-मूत्रादि की गति का नियन्त्रण करता है। नाभिस्थ 'समान' प्राण और अपान के भारसाम्य की रक्षा करता है। कण्ठस्थ 'उदान' वाक्शक्ति का नियन्त्रण करता है और 'व्यान' वायु सम्पूर्ण देह में परिव्याप्त रहकर रसरक्तादि का सञ्चालन एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को स्नायु तन्तुओं की सहायता से ज्ञेय और कार्य के साथ सम्बन्धित करती है। मन की मनन-क्रिया के लिए स्नायुकोश में स्पन्दन का प्रयोजन है। वह भी 'ज्यान' वायु द्वारा होता है। नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये पञ्च बहिर्वायु प्रसारण-सङ्कोचन, जृम्भन (अँगड़ाई और जम्हाई) एवं हिक्का, लुधा-तृष्णा और निद्रा-तन्द्रा का नियन्त्रण करती हैं। अतएव देखा जाता है कि ब्रह्म-सृष्टि-वायु की सहायता से ही व्यष्टि-जीव ब्रह्म-मन से अपने मनःधातु को

संग्रह करता है। प्राण, मन के साथ मिलने से ही इन्द्रियसमूह प्रकाशित होता है। आकाश (खं) वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इत्यादि सब उसी विराट् ब्रह्ममन से सृष्ट होते हैं, उन्हीं में विधृत होते हैं अथवा ब्रह्ममन से सृष्ट यह पञ्चभूत ही विश्व के अस्तित्व की रक्षा करता है।

“यत् परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्मायतनं महत् ।

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत् ॥”

“*Yat param Brahma sarvātmā vishvasyāyatanam mahat*

Sūkṣmātsūkṣmataram nityam tattvameva tvameva tat.”

इस मन्त्र का प्रधान लक्षणीय विषय यह है कि यहाँ ब्रह्म के लिए पुरुष या स्त्रीलिंग वाचक शब्द न व्यवहार कर क्लीवलिंग वाचक शब्द व्यवहार किया गया है। सचमुच में अनादि-अनन्त निराकार सत्ता पुरुष या स्त्री विशेषण से विशिष्ट नहीं होती। ये सर्व जीवों के प्राणस्वरूप हैं। सभी आत्माओं के आत्मा हैं, इसीलिए ये परमात्मा हैं। सीमित वस्तु मात्र को ही एक आधार की आवश्यकता है। केवल असीम को ही आधार की आवश्यकता नहीं होती। विश्व की जितनी भी खण्डवस्तुएँ हैं, वे ब्रह्म के ही खण्डविकाश हैं, उन्हीं से विधृत हैं, सब उन्हीं के मन की कल्पित वस्तु हैं। ब्रह्म का बुद्धितत्त्व,— उनकी अस्तित्वयुक्त प्रज्ञासत्ता जैसी अति विराट है वैसी ही उनकी

मानससृष्ट सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, खण्ड से भी खण्ड वस्तुओं में ज्ञातृसत्ता रूप में विच्छुरित होकर है। जो जीव में ज्ञाता भाव में हैं वे ही बिराट् में भी ज्ञाताभाव से हैं। उनके ज्ञातृत्व धर्म में वैलक्षण्य नहीं आता है, वैलक्षण्य आया है केवल आधार में। हमलोग उनको विभिन्न आधारीभूत सत्ता के रूप में सोचते हैं, इसीलिए उनको पृथक् दृष्टि से देखते हैं। साधक जानते हैं कि आत्मा को जानने से ही परमात्मा को जाना जाता है क्योंकि इन दोनों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। रामकृष्ण परमहंस ने भी कहा है कि मनुष्य अपने को जान लेने से ही भगवान् को जान सकता है। सत्यद्रष्टा ऋषि रवीन्द्रनाथ ने इस भाव को अपनी एक सुन्दर कविता में बड़ा ही सुन्दर रूप दिया है—

“हाय गगन नहिले तोमारे धरिबे केवा,
ओगो तपन तोमार स्वपन देखि जे
करिते पारिने सेवा।

शिशिर कहिल काँदिया, तोमारे राखि जे बाँधिया
हे रवि आमार नाहिक तेमन बल

तोमा बिना ताई लुट्र जीवन केवलइ अभ्रुमल
आमि विपुल किरणे भुवन करि जे आलो
तबु शिशिर टुकुरे घरा दिते पारि
बासिते पारि जे मालो

शिशिरेर बुके आसिया कहिल तपन हाँसिया

छोड़ो होये आमि रहिबो तोमारे भरि

तोमार लुट्र जीवन गड़िबो हाँसिर मतन करि ।”

प्रत्येक खण्डवस्तु कार्य-कारण सम्बन्ध के अधीन है और प्रत्येक क्रिया मानससत्ता का ही विषय है। खण्डवस्तु में जो मानससत्ता रहती है उसका कारण ब्राह्मीमन में निहित है। वह केवल ब्राह्मी-मन की सृष्ट वस्तु ही नहीं है, ब्राह्मीमनका विषय भी है। ब्राह्मी-मन का कोई कारण नहीं है, क्योंकि ब्राह्मी-मन के सृष्ट होने के पहले दूसरी कोई क्रियाशील सत्ता नहीं थी। ब्राह्मीमन सृष्ट हुआ, इस प्रश्न का उत्तर खोजने में अनवस्था दोष आ जाता है। कारण, सगुण-ब्रह्म के जन्म का साक्षित्व दूसरे किसी में नहीं रह सकता है। उस समय मन नहीं रहने के कारण देश-काल-पात्रादि आपेक्षिक तत्त्वों का अस्तित्व भी नहीं था। उनकी उत्पत्ति का काल खोजने के समय और एक मनयुक्त वस्तु का प्रयोजन अनुभव किया जाता है। सगुण-ब्रह्म का जन्म, स्थिति या लय ये तीनों ही मन के अतीत हैं तथा देश-काल पात्रादि से अतीत होने कारण उन्हें नित्य कहा जाता है। ब्रह्मविज्ञान कार्यकारण तत्त्वों से बाहर है। ब्रह्म के बाहर कोई नहीं है, इसीलिए कोई उनका कारण (पूर्वरूप) नहीं हो सकता क्योंकि कारण के परिवर्तित रूप को ही कार्य कहा जाता है। दूध दही का कारण है क्योंकि दूध दही की पूर्वावस्था है। ब्रह्म के बाहर अन्य किसी वस्तु के नहीं रहने से वे किसी परवर्ती कार्य के कारण भी नहीं हो सकते। सङ्कोचन और प्रसारण के फलस्वरूप वस्तुओं में

परिवर्तन आता है। इसी सङ्कोचन-प्रसारण के लिए वस्तु विशेष के ऊपर किसी दूसरी वस्तु के प्रभाव की आवश्यकता होती है। अतः ब्रह्म अपरिणामी हैं—एकमात्र सद्वस्तु हैं। जब तक मन है तब तक ही कार्य-कारण का सम्पर्क है, तब तक ही मनुष्य कहेंगे—

“कारणाभावात् कार्याभावः ।”

“*Kāraṇābhāvāt Kāryābhāvah.*”

आपातदृष्टि से ब्रह्म का जो परिणाम है वह तो सम्पूर्णतया उन्हीं के अभ्यन्तरस्थ है। यह परिणामी वस्तुसमूह उन्हीं से सृष्ट है, उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में लय प्राप्त करता है। इसीलिए ऋषि कहते हैं—“तिनिई तुमि, तुमिई तिनि ।” (वे ही तुम हैं, तुम ही वह हो ।)

वस्तुओं का यह जो परिणाम है, यह पञ्चभूतात्मक है अर्थात् जित्ति, अप, तेज, मरुत, व्योम किसी-न-किसी अवस्था में रहेगा ही—और ये जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों की किसी-न-किसी एक अवस्था में रहते हैं।

“जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यद्रूपाशते ।

तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वं बन्धैः प्रमुच्यते ॥”

“*Jāgratsvapnasusūptyādi prapaincam yad
prakāshate*

*Tadbrahmāhamiti jinā tvasarva bandhaeh pr-
amucyate.”*

पञ्चभूतों के समवाय को प्रपञ्च कहते हैं। कल्पनाधारा की गति के साथ-साथ भूतों में रूप भेद भी होता जाता है। ये सूक्ष्म से स्थूल की ओर (सञ्चर) जाकर फिर से स्थूल से सूक्ष्म की ओर (प्रतिसंचर) लौटते हैं। इसीलिए ये नश्वर हैं। इनका कोई भी एक रूप देश-काल-पात्र इन तीनों पर निर्भरशील है। केवल यही नहीं, इनकी प्रकाशशील एवं क्रियाशील और जड़मावात्मक तीन अवस्थाएँ क्रमानुसार जीवों की जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति में अधिष्ठित होकर रहती हैं। किन्तु इनके इन विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों का उत्स कहाँ है? उपकरण क्या है? ये सब वही महान् आत्मा हैं- उसी विराट् अभिमान 'अहम्' के उसी सीमाहीन शक्तिकेन्द्र से ही उद्भूत हैं। इसीलिए पारमार्थिक विचार से ये जाग्रत स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ तथा यह प्रपञ्चमय जगत् समस्त मैं ही हूँ। मैंपन (अहंभाव) की यह प्रकृत संज्ञा को जो समझते हैं वे और किसी बन्धन को बन्धन समझ कर भयभीत नहीं होते हैं।

“त्रिसुधामसु यद्भोग्यं भोक्ताभोगश्च यद्भवेत् ।

तेभ्योविलक्षणोसाक्षीचिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥”

“*Trisudhāmasu yadbhogyam bhoktābhogashca
yadbhavet*

*Tebhyovilakṣaṇo sāksīcinmā tro'ham sadaś
shivah.*”

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को उपर्युक्त श्लोक में त्रिधाम कहा गया है। अनुल्लिखित चतुर्थ धाम ही अविकृत है—अपरिणामी “मैं” है। इस त्रिधाम में जो कुछ भी वस्तुएँ हैं वे भोग्य, भोक्ता या भोगरूप में प्रतीयमान होती हैं और इन तीनों के विपरीत लक्षणयुक्त (विलक्षण शब्द विपरीत लक्षण के अर्थ में व्यवहृत हुआ है) चतुर्थ सत्ता भोग, भोक्ता, भोग्य का साक्षी चैतन्यस्वरूप सदाशिव है। मैं ही वह सदाशिव हूँ। तन्त्र में साधारणतः अर्द्धनारीश्वर शिव को ही सदाशिव कहा गया है। यहाँ पर सदाशिव ठीक उसी अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है। शिव का अर्थ है पुरुष, कल्याणदाता अथवा मङ्गलमय। जो सर्वदा ही इस शिव भाव में रहते हैं वे ही सदाशिव हैं।

“मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।

मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्व्ययमस्म्यहम् ॥”

*Mayyeva sakalam jātam mayi sarvām pra
tisthitam*

*Mayi sarvām layam yāti tadbrahamādvya-
masmyaham.”*

इस सदाशिव भाव में जो प्रतिष्ठित हैं वे देखते हैं, वे समझते हैं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि हमारे मन में ही सृष्ट होती है। इनका अस्तित्व हमारे मानस-पट में ही अङ्कित होता है और हमारे मैपन के मध्य में ही ये सब लय हो जाते हैं। मैं ही वह

अक्षर ब्रह्म हूँ ।

“अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानं विश्वमहं विचित्रम् ।

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहम् शिवरूपमस्मि ॥”

*Aṇōraṇīīyā nahameva tadvanmahā nahaṁ vi-
shvamaham vicitram*

*Purātano'ham puruṣo'hamiisho hiraṇ mayo'
ham shivarūpamasmi.'"*

वे समझते हैं कि मैं अणु से भी अणु रूप धारण करता हूँ और मैं ही विराट् से भी विराट् हूँ । मैं ही इस परिदृश्यमान विश्वरूप में विकशित होता हूँ । मेरी कार्यधारा, मेरी भावधारा और मेरी चिन्ताधारा अद्भुत है । जिस अद्भुत स्पन्दन में अनिर्वचनीय द्योतना से मैं अपने को अनन्तभाव में विस्तार कर देता हूँ उनमें एक के साथ दूसरे का कोई मेल नहीं है । प्रत्येक ही अपनी विशिष्टता से वैशिष्टवान है । प्रत्येक ही विभिन्न भाव से मेरा ऐश्वर्य ग्रहण कर विचित्र गति से रूपलोक से अरूप की ओर दौड़ता रहता है । मैं सचमुच कितना अद्भुत हूँ । मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है । मैं अपना कोई भी कारण खोज नहीं पा रहा हूँ । मैं कार्य-कारण तत्त्वों के बाहर हूँ । इसीलिये मुझ से पुरातन और कोई दूसरा नहीं है । मैं ही ज्ञानस्वरूप हूँ—मुझमें अमंगल एवं अशुभ की भावना प्रविष्ट नहीं हो सकती । मैं सभी जीवों के कल्याण की कामना करता हूँ । उपर्युक्त भाव में साधक जब प्रतिष्ठित होता है, उस समय वह अपने

मीतर अनन्त रूप देखकर तन्मय हो जाता है—उसका बहिर्ज्ञान लुप्त हो जाता है। इसी अवस्था को हम सविकल्प-समाधि कहते हैं। इस अवस्था में साधक का जीव-भावात्मक 'मैं' शिव-भावात्मक 'मैं' में मिल जाता है, एकाकार हो जाता है। निर्विकल्प समाधि के साथ इस भाव का अन्तर यह है कि निर्विकल्प में क्षुद्र-बृहत् का कोई मैंपन ही नहीं रहता। सब कुछ ही निर्विशेष चैतन्य में समाहित हो जाता है। सविकल्प-समाधि में बहिर्ज्ञान नहीं रहने से साधक में द्वैत-भाव नहीं रहता है। अन्तर्मुखी-भाव में स्थित रहने से अन्तर्लोक-दृष्ट वस्तु-समूह 'मैं' से अभिन्न भाव में प्रतीत होता है। उनकी इस अवस्था को बाहर के लोग नहीं समझते। कोई उपहास करते हैं, कोई पागल बावरा कहते हैं। वे यह नहीं जानते हैं कि इस भाव से पागल बनने के लिए चाहिये जन्म-जन्मान्तर की सुकृति—सब को छोड़कर एक को पाने की ऐकान्तिक आकुति। ऐसे पागल ही विश्वमन को आगे ले चलते हैं। महाकवि रवीन्द्र नाथ ने कहा है—

जे तोरे पागल बले—
 तारे तुई बलिस् ने किछु,
 आज के तोरे केमन भेवे
 अङ्गे जे तोर धूलो देवे,
 काल से प्राते माला हाते
 आसवे रे तोर पिछु पिछु।
 आज के आपन मानेर भरे

आक से बोसे गदीर परे,
काल से प्रेमे आसबे नेमे
करवे रे तार माथा नीचु ।”

जो ऐसा पागल है वह अपने स्वरूप को देखकर कहता है
कि सचमुच मैं कितना अद्भुत हूँ ।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।

अहं विजानामि विविक्तरूपो नचास्तिवेत्ता ममचिद्सदाऽहम् ॥

Apāṇipādo'hamacintyashaktih pashyāmyaca

kṣuh sa shrṇomyakarnāh

Aham vijānāmi viviktarūpo nacāstivetta ma-

macidsada'ham

साधक जब समझते हैं कि हाथ-पैर आदि इन्द्रियों मेरी तो नहीं हैं । मैं तो असीम सत्ता हूँ तब मेरे हाथ-पैर क्या ? मेरा स्वरूप, मेरी चित्ति-शक्ति अचिन्तनीय है । इन्द्रियों के अधिगम्य विषय दर्शन ज्ञान एवं श्रवणज्ञान सभी मेरी मानस-भूमि में निहित रहते हैं । तब मेरे आँख-कान क्या हैं ? मैं बिना आँखों के देखता हूँ, बिना कान के सुनता हूँ । इस अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड की वैचित्र्यमयी सृष्टि के प्रत्येक पदविक्षेप का, प्रत्येक तरंग के उत्थान-पतन का मैं संवाद रखता हूँ । स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदि सब विषयों का मैं ज्ञाता हूँ । मैं सबका विषयी हूँ किन्तु मेरा ज्ञाता कोई नहीं है । मेरा विषयी कोई नहीं है । मैं किसी का विषय नहीं । मैं चित्स्वरूप हूँ, इसलिए कोई मन से मेरा मनन

नहीं कर सकता ।

“वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेवचाहम्,
न पुण्यपापे ममनास्तिनाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ।
न भूमिरापो न बहिरस्ति नचानिलोमेऽस्ति नचाम्बरञ्च,
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥”

*Vedaeraneekaerahameva vedyo vedāntakrt
vedavidevacā ham*

*Na puñya pápe mamanástinásho na jan-
madehendriyabuddhirasti*

*Na Bhu'mirápo Na Vahníirasti Nacánilome'sti
Nacámbarin.ca*

*Evamí Vtditvá Paramátmaru'pamí Guháshayam
Nis'kalamadvitiiyam."*

प्रत्येक ज्ञान का कोई-न-कोई ज्ञेय है । जैसे, मूगोल का ज्ञेय या विषय पृथिवी के विभिन्नराष्ट्रगत और प्रकृतिगत कार्य हैं । गणित पुस्तक का विषय विभिन्न प्रकार के हिसाब हैं । उसी प्रकार वेद और ज्ञान के जितने भेद हैं उन सबों का मूल विषय मैं ही हूँ अर्थात् परिदृश्यमान जगत् में मैं जो कुछ भी खण्ड वस्तु देखता हूँ वे सभी मेरे ही विकाश के सिवा और कुछ नहीं हैं । हम-स्रोग जितने भी मन्त्र-प्रवक्तृओं, मन्त्रद्रष्टाओं को ऋषि रूप में देखते हैं, वे वेदान्त शास्त्र (वेद के ज्ञानकाण्ड का चरम भाग) के रचयिता और वेद विद्वगण मुझे छोड़कर और कोई

नहीं हैं अर्थात् महापुरुषों के नाम रूप के माध्यम से मैं ही ब्रह्म-विद्या की शिक्षा दिया करता हूँ ।

अनन्तत्व के कारण मेरी यह देह, इन्द्रिय और कार्यकारिणी बुद्धि (जो कर्मेन्द्रियों को बहिर्जगत् के साथ संयुक्त करती है) नहीं है । सर्वदा विराट भाव में स्थित रहने से मेरे लिए पाप या पुण्य कहकर कुछ नहीं है । जन्म भी नहीं है, इसलिए मेरा नाश भी नहीं है । मेरा अस्तित्व क्षिति, अप, तेज, मक्ष् या व्योमतत्त्व के ऊपर निर्भरशील नहीं है । इसी तरह परमात्मरूप गुहास्थ अर्थात् हृदयस्थ या बुद्धिसाक्षी निर्मल अद्वितीय ब्रह्म की ही समाधिस्थ अवस्था में साधक उपलब्धि करते हैं । वे अद्वितीय एवं निर्मल हैं । उनका कारण भी अनादि और अनन्त है । उनके बाहर कुछ नहीं रहने के कारण वे द्वितीय रहित हैं । प्रकृति के प्रभाव के ऊर्ध्व रहने के कारण उनमें सङ्कोचन-प्रसारण आदि क्रियाएँ होने का सुयोग नहीं है, इसीलिए वे सत्स्वरूप हैं । उनमें स्वजातीय, विजातीय और स्वगत कोई भेद नहीं है । इस चरम अभेदावस्था में पहुँचना ही साधक की परमाप्राप्ति है ।

‘समस्तसत्तिं सदसद्विहीनं प्रयातिशुद्धं परमात्मरूपम् ।’

“*Samastasāksīm sadasadvihīnam prayaśishuddham paramātmārūpam.*”

सर्विकल्प-समाधि की प्रथम अवस्था में अस्मिता भाव

के रहने के कारण बृहत् भाव में विश्व-कल्पना की क्रिया भी रहती है। किन्तु साधक जब इसकी चरम अवस्था में पहुँचते हैं तब क्रमशः कर्मराज्य से भावराज्य के ऊर्ध्वे अनुप्रविष्ट होते हैं, तब अपने स्वरूप को सद्सद्-विहीन एक शुद्ध परम-चैतन्य रूप में समझ लेते हैं। उस समय मैं कर्त्ता हूँ ऐसा भी मन में नहीं प्रतीत होता। मन में ऐसा होना है कि मैं समस्त विश्व व्यापार का निश्चेष्ट साक्षी मात्र हूँ।

काँचिकी पूर्णिमा—१९५५

वेद में ब्रह्म-विज्ञान

(पाँच)

इसके पूर्व धर्ममहाचक्र में मैंने ब्रह्मचक्र के सम्बन्ध में कुछ अल्प बातें कही थी। उसमें सौरचक्र, पार्थिवचक्र तथा परमाणु-चक्र (atomic system) की तुलना करते हुए ब्रह्मचक्र को भी समझाने की चेष्टा की थी। सौरचक्र का nucleus अर्थात् प्राणकेन्द्र या महाव्यूह सूर्य है। पृथिव्यादि विभिन्न ग्रह इस सूर्य से उद्भूत होकर सूर्य को ही केन्द्र बना इसके चारों तरफ घूम रहे हैं। वे न तो सूर्य में मिल ही जाते हैं और न उससे दूर ही छिटक जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनके ऊपर केन्द्रातिगा और केन्द्रानुगा इन दो शक्तियों का साधारणतः भारसाम्य रहता है। इस भारसाम्य के नष्ट होने पर एक या अनेक ग्रह केन्द्रानुगा शक्ति के प्रबल्य के कारण सूर्य में आकर मिल जाएँगे अथवा केन्द्रातिगा शक्ति के द्वारा परिचालित होकर सूर्य से क्रमशः दूर हट जाएँगे।

ठीक उसी प्रकार पार्थिव-चक्र का nucleus या प्राणकेन्द्र

यह पृथिवी है। चाँद इसे केन्द्र बनाकर इसके चारों तरफ घूमता है। यहाँ पर भी ठीक उसी तरह केन्द्रातिगा और केन्द्रानुगा दोनों शक्तियाँ प्रायः समभाव से ही कार्य करती जाती हैं।

परमाणु-चक्र के प्राणकेन्द्र के चारों तरफ विद्युत्कण-समूह घूमता है। वहाँ भी यही एक लीला है, यही एक व्यवस्था है। ब्रह्मचक्र कहने से यह विराट् universe या ब्रह्माण्ड समझा जाता है जिसके प्राणकेन्द्र या महाव्यूह हैं—साक्षीस्वरूप अक्षर पुरुष और इनके चारों तरफ घूमता रहता है उन्हीं का मनःसृष्ट सूर्य नक्षत्रादि वस्तु-समूह जो उन्हीं की कल्पनाधारा है। यहाँ भी वही केन्द्रातिगा और केन्द्रानुगा शक्तियों का भार-साम्य रहता है। शक्ति की इस साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। इस विराट् ब्रह्मचक्र की केन्द्रातिगा शक्ति तमोगुण प्रधान है। इसी का नाम अविद्या है। केन्द्रानुगा शक्ति सत्त्वगुण प्रधान है जिसे विद्या कहते हैं। इससे यह भी निश्चय ही समझ रहे हो कि इस प्राणकेन्द्र के चारों तरफ घूर्णायमान वस्तु-समूह जब प्रथम सृष्ट हुआ था तब केन्द्रातिगा शक्ति प्रधान थी अर्थात् सृष्टि क्रिया निश्चय ही तमः प्रधान है और जब उसकी सृष्ट वस्तुएँ उसके प्रति ऐकान्तिक आग्रह रखकर सभी विरोधी शक्तियों को तुच्छ समझ विद्युत् गति से उसकी ओर जाती हैं तब निश्चय ही शक्ति का भार-साम्य नहीं रहता है। जैसे, चल्का पृथिवी की गोद में आकर गिर पड़ती है, ठीक उसी प्रकार वे वस्तुएँ भी ब्रह्मचक्र का कक्षपथ छोड़कर उसी महा-

जागतिक प्राणकेन्द्र में आ मिलती हैं । यह ओ ब्रह्माभिमुखी गति है इसमें निश्चय ही केन्द्रानुगा शक्ति का ही प्राधान्य है । इसलिये मुक्ति का पथ सत्त्वगुण का पथ है । इसे मुक्ति का पथ क्यों कहते हैं ? इसीलिए कि प्राणकेन्द्र में मिल जाने के बाद उसकी और कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है । पृथिवी सूर्य में मिल जाने के बाद पृथिवी का पृथिवीत्व सूर्यत्व में समाहित हो जाता है ।

“सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे
पृथगात्मानं प्रेरितारश्चमत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।”

(यजुः)

*Sarvājīve Sarvasamsthe brhante
Tasminhamso Bhrāmyate Brahmacakre
Prthagātmānam Preritāraincamatvā
Jusṭastatastenā mṛtatvameti*

(yajuh)

इसी ब्राह्मीकेन्द्र के चारो तरफ जीव अनादि काल से घूमता चलता है और उसका यह घूमना तब तक चलता रहेगा जब तक उसका भेदभाव दूर नहीं हो जाता है अर्थात् ब्रह्म से अपने पृथक् होने का भाव जब तक दूर नहीं होता तब तक उसका यह घूमना बन्द नहीं होगा और घूमते-घूमते जब इस प्राणकेन्द्र

के प्रति आत्यन्तिकी अनुरक्ति जगेगी, उसको छोड़कर और सब कुछ को भूल जाना चाहेगा, तब कोई भी शक्ति उसको पृथक् नहीं रख सकेगा। यह जो आत्यन्तिकी अनुरक्ति है, इसे ही भक्ति कहते हैं। उनके पास जाना तब सहज होता है जब जीव यह समझ लेता है कि वे सर्वदा ही उसको अपनी गोद में वापस ले लेना चाहते हैं। जीव को अपने बीच में ले लेने की उनकी यह इच्छा ही जीवों के प्रति उनकी कृपा है। सचमुच वे सब के ऊपर यह कृपा-वर्षण कर रहे हैं। भोग-साधना में आँखें अन्धी होने के कारण जीव उसको ठीक देख नहीं पाता, समझ नहीं पाता। महर्षि नारद ने कहा है—“महत् कृपयैव भगवत् कृपालेशाद्वा” अर्थात् इसके लिए उनकी कृपा चाहिए। वे जो कृपा करते हैं यह भी पहले ही कहा गया है। आवश्यकता है केवल एकान्त चित्त में निविष्ट मन से उनकी कृपा का ही चिन्तन करना। उनकी कल्पनाधारा अविराम गति से बढ़ रही है। जब तक तुम उनकी कृपा नहीं समझने हो एवं उनकी ओर जाने की चेष्टा नहीं करते हो तब तक उनके इस कल्पनाचक्र में, इस संधारचक्र में, तुम्हें कोलहू के बैल के समान चक्कर काटते रहना होगा। साधक कवि रामप्रसाद ने गाया है।

“मां ! आमाय घुरावि कत ?

कोलहूर चोख-ढाका बलदेर मत,

घानि-गाछे जुड़े दिये माँ

पाक दितेछो अविरत।”

यह जो ब्रह्मचक्र का प्राणकेन्द्र है इसीका नाम है पुरुषोत्तम। ये कल्पनामय जगत् अर्थात् ब्राह्मीमन के क्षर और अक्षर के अधीश्वर हैं। इनमें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व भी है किन्तु ये स्वयं कोई कर्म नहीं बन गए। विशुष्क विचार से उन्हें निर्गुण भी नहीं कह सकते हैं। कारण, इनमें समग्र ब्रह्माण्ड का साक्षित्व रहता है। ये पुरुषोत्तम और इनका मानसविषय ब्रह्माण्ड इन दोनों को मिलाकर सगुण-ब्रह्म हैं। गुणगत विचार से ब्रह्म के कर्मभाव से इनके इस ज्ञातृत्व भाव में अन्तर यह है कि कर्मभाव में ब्रह्म गुणाधीन हैं और पुरुषोत्तम गुणाधीश। किन्तु गुण के साथ उनका मतलब तो रह जाता है। इसीलिए कहा था कि गुणाधीश या गुणातीत होने पर भी सचमुच में वस्तु सम्पर्क योग रहने के फलस्वरूप विशुद्ध विचार से उन्हें निर्गुण नहीं कह सकते हैं।

वेद में सगुण-ब्रह्म के लिए गायत्री छन्द रचित सवित्री ऋक् व्यवहृत होता है। ॐकार के प्रथम तीन पाद भी (अ, उ, म—केवल नाद बिन्दु को छोड़कर) सगुण-ब्रह्म के लिए व्यवहृत हुए हैं। पुरुषोत्तम के लिए अर्थात् सगुण के प्राणकेन्द्र के लिए अनुष्टुप मन्त्र ही प्राचीन काल में व्यवहृत होता था। यहाँ पर यह कहना अच्छा होगा कि गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, एवं जगती इन सप्त छन्दों में गायत्री और अनुष्टुप् की मर्यादा समधिक है। गायत्री

मन्त्र मूलतः अष्टाक्षरों की तीन पंक्तियों में मोटे तौर पर चौबीस अक्षरों में रचित है। अनुष्टुप् के बत्तीस अक्षर हैं। पुरुषोत्तम के लिए रचित अनुष्टुप् की अष्टाक्षर युक्त एक-एक पंक्ति ॐकार का एक-एक पादस्वरूप गिनी जाती है।

“उग्रं बीरं महाविष्णुम्
ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रम्
मृत्युर्मृत्यु नमाम्यहम् ॥”

Ugram Viram Mah āviś num
Jvalantam Sarvatomukham
Nrsimham Bhiśānam Bhadram
Mrtyu mrtyu namāmyaham.

उपर्युक्त मन्त्र में नृसिंह के लक्षणों का वर्णन है। प्रथम ही उन्हें उग्र कहा गया है। यह विशेषण उन्हें क्यों दिया गया है? उत्तरार्थ में अनु अर्थात् अनु+ग्रह, यह अनुग्रह जो करते हैं वे उग्र हैं। सचमुच में अनुग्रहशील या उग्र किसे कह सकते हैं? उन्हें जिन्होंने सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया द्वारा जगत् को धारण कर रखा है। अनादि काल से जिनकी अनुग्रह धारा से सृष्टि ध्वंसचक्र के बीच घूम रही है वे ही उग्र हैं। इस छोटी पृथिवी के लिए सूर्य उग्र है, कारण आपातदृष्टि से पृथिवी की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण वह ही है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचक्र के कारण पुरुषोत्तम हैं। इसीलिए उनसे

अधिक उग्र और न कोई है और न कुछ हो सकता है ।

वीर—पुरुषोत्तम को वीर कहा गया है । क्यों ? इसी-लिए न कि वे अपने अलोकसामान्य साहस के बल से ब्रह्माण्ड की प्रत्येक समस्या और प्रत्येक अवस्था के सम्मुखीन होकर चलते रहते हैं । साहस के साथ सिद्धान्त में पहुँचते हैं और तदनुकूल कार्य करते चलते हैं । जो प्रत्येक के साथ, प्रत्येक सत्ता के साथ सर्वदा यथोचित व्यवहार करता जाता है वह निश्चय ही वीर है ।

महाविष्णु—विष्णु शब्द का अर्थ है—विराट्, व्यापन-शील । मानससत्ता द्वारा जिन्होंने अपने अस्तित्व को सब तरह के सीमाबन्धनों को तोड़कर असीम में प्रसारित कर दिया है उनको विष्णु नहीं कहेंगे तो फिर कहेंगे किसको ? इसीलिए उनको महाविष्णु कहना अत्यन्त ही युक्तिसंगत है ।

व्वलन्त—सर्व शक्तियों की जो मूलशक्ति हैं, सर्वशुक्ति के जो मध्यमणि हैं वे तो व्वलन्त होंगे ही । महाजागतिक सर्वप्रकाश की वे ही मूलशिखा हैं, वे ही प्राणशिखा हैं । उनकी शुक्ति के सामने और अन्य शक्तियाँ म्लान पड़ जाती हैं ।

“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव मान्तमनुमाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।”

Na tatra sūryo bhāti na candratārakam

*Nemá vidyutobhánti kuto'yamagni
Tameva bhántamanubháti sarvám
Tasya bhúsá sarvamidani vibháti.*

अर्थात् उनके सामने सूर्य को भी ज्योतिष्मान् कहना ठीक नहीं जँचता। चन्द्र, तारे या विद्युत् की अवस्था भी वैसी ही है। अग्नि की बात तो कहना ही बेकार है। वे ज्योतिष्मान् हैं, इसीलिए सभी ज्योतिष्मान् हैं। उनकी ज्योति से ही ये सब ज्योतिष्मान् बनकर हैं।

सर्वतोमुखम्— वे सर्वसाक्षी हैं। आब्रह्मस्तम्ब सभी वस्तुओं की—अति बृहत् ऐरावत् से लेकर बल्मीककीट (दीमक) तक सभी जीवों की समस्त क्रियाओं के वे साक्षी हैं। इस सर्वसाक्षी को सर्वतोमुख होना ही होगा। दशों दिशाओं में जो कुछ था, है अथवा होगा, सभी उन्हीं की मानससत्ता का खण्डविकाश है। इसीलिए सब के वे महान् साक्षी हैं। बात तो समझें न ? मन में तुम जो कल्पना करते हो, उस भावित विषय के क्या तुम साक्षी नहीं हो ? भावित विषय को देखने के लिए जिस प्रकार तुम्हें मनश्चक्षु को उस दिशा की ओर लगाना पड़ता है, उसी प्रकार इस सार्वदैशिक सृष्टि को देखने के लिए पुरुषोत्तम को सर्वतोमुख होना ही होगा।

“एषो ह देव प्रदिशोऽनुसर्वा ।

पूर्वो ह जात स ऊ गर्भे अन्त

स एव जातः सः जनिष्यमान

प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठते सर्वतोमुखः ।”

(यजुः)

Eśo ha deva pradisho'nusarvā

Pūrvō ha jāta sa u garve anta

Sa eva jātah sah janiśyamāna

Pratyauñjanā m'stiśt hate sarvatom

ukhah. (yajuh)

छः दिशाएँ अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः एवं चार अनुदिशाएँ अर्थात् ईशान्, वायु, अग्नि और वैश्वत इन सभी दिशाओं की ओर उनकी दृष्टि समभाव से रहती है। इसीलिए वे सर्वतोमुख हैं।

नृसिंह—नृ शब्द का अर्थ है नर, पुरुष या चैतन्य (consciousness) सिंह का अर्थ है श्रेष्ठ। इन दोनों शब्दों को मिलाकर इसका अर्थ होता है पुरुषश्रेष्ठ या पुरुषोत्तम अर्थात् चरमसत्ता (Supreme authority) यहाँ पर यह अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए कि नृसिंह शब्द का अर्थ अर्द्ध मनुष्य और अर्द्ध सिंह (lion) देहधारी कोई जन्तुविशेष नहीं हो सकता है। यह सम्पूर्णतः पुराणकारों की कल्पना है। जो परम-सत्ता या Supreme authority हैं वे पुरुषोत्तम ही नृसिंह पदवाच्य हैं। वे उनकी अभिलाषा करने वाले साधकों को साधनविरोधी शक्तियों से अवश्य ही रक्षा करते चलते हैं। प्रह्लादरूपी भक्तों को हिरण्यकशिपु रूपी साधनविरोधी

शक्तियों (दैत्यों) से रक्षा करने के लिए उन्हें कितनी बार कठोर व्यवस्था का भी सहारा लेना पड़ता है। इस सुमहान् पुरुषोत्तम को अर्द्धमानव और अर्द्ध सिंह रूप में कल्पना कर खेल करना तुम्हारे लिए कमी भी वांछनीय नहीं है।

भीषण—जो सर्व कर्म के चरम अध्यक्त हैं, उन्हें अपने न्यायदण्ड की मर्यादा अक्षुण्ण रखने के लिए आपातदृष्टि से अनेक क्षेत्रों में भीषण आचरण करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ऐसा नहीं करने से उन पर एकदेशदर्शिता का दोष आ जायगा। उनके अकलंक नाम पर कलंक आ जायगा। जो अपने को क्षुद्र स्वार्थ के बन्धन में आवद्ध रखे हुए हैं उन्हें जीव कहते हैं। कारण, क्षुद्र स्वार्थ से मरे विचार उनके मानसधातु को दैशिक, कालिक और पात्रिक रूप देकर उन्हें सीमित तथा खण्ड बनाए रखते हैं। इस सीमितत्व या जीवत्व की भावना से उनमें असीमत्व या शिवत्व भाव के प्रति एक भयपूर्ण भाव बना हुआ है। यह जीव का स्वभाव है। जो अपनी सीमा के बाहर वालों से अर्थात् जो उसकी अपेक्षा बड़े हैं उनसे भय खाते हैं, उनकी खुशामद करते हैं। तुम्हारी विद्याबुद्धि, धन या शक्ति की तुलना में जिनकी विद्या-बुद्धि, धन वा शक्ति अधिक है, उनके प्रति तुम्हारा एकात्म भाव नहीं रहने से तुम निश्चय ही उनसे भय खाओगे। यह जो पुरुषोत्तम हैं उनको जो प्राणों के प्राण, आत्मा के आत्मा समझते हैं अर्थात् इनके साथ जिनका एकात्म भाव जगा हुआ है, वे इनसे भय नहीं खाएँगे। वे उनको

प्यार करेंगे। वे होंगे ईश्वर प्रेमी। जो अपनी खण्डसत्ता को लेकर सदा सचेतन हैं वे उनसे मयमोत होंगे। वे होंगे ईश्वरभीरु, धर्मभीरु। इसीलिए कहा था कि वे अवश्य ही सत्ताविशेष के लिए भीषण पदवाच्य हैं।

“मीषास्माद्वायुपवते मीषोदेतिसूर्यः

मीषस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युः धावति पञ्चमः

तस्मादुच्यते मीषणमिति।”

(अथर्व)

Bhiiś ā smā dvā yupa vate bhiiś odetisū ryah

Bhiiś asmā dagnishcendrashca mrtyuh dhā vati

paiṅcamah

Tasmā ducyate bhiiś anāmiti.—(Atharva)

वायु उनके भय से प्रवाहित होता है। इनके भय से ही सूर्य उदित होता है। अग्नि प्रज्वलित होता है, इन्द्र अर्थात् जड़शक्ति अपने कर्तव्य का पालन करती है और मृत्यु भी उपयुक्त समय जीवों के पास आ उपस्थित होती है। भीषण मृत्यु भी जिनके भय से डरती हैं उनको भीषण नहीं कहेंगे तो कहेंगे किसको ? इसीलिए व्यष्टिसत्ता उनसे डरती हैं, व्यक्तिसत्ता उनसे डरती है। वेद में इस सम्बन्ध में एक रूपक है। एक बार देवताओं के सामने एक विराट् ज्योतिष्मान् सत्ता आविर्भूत हुई थी। इस विराट् सत्ता का परिचय जानने के लिए देवताओं ने अग्नि, वायु और इन्द्र को भेजा था। उस पुरुष के पास

जाकर अग्नि ने अपना आत्म परिचय देते हुए कहा था—“मैं अग्नि हूँ, मैं जातवेद हूँ, जलाना ही मेरा धर्म है।” उस समय विराट् पुरुष ने तृण के एक टुकड़े को दिखाकर कहा—“इसे जलाओ तो” जिसका धर्म ही जलाना है वह अग्नि उस समय शत चेष्टा करने पर भी उसे जला नहीं सका। वायु भी उसके समीप जाकर ठीक इसी प्रकार अपदस्थ हुआ। अपना परिचय देते हुए इसने कहा—मैं वायु हूँ, मैं मातरिश्वा हूँ, उड़ाना ही मेरा स्वभाव है। किन्तु यह मदमत्त वायु भी उस तृण के एक टुकड़े को उड़ाने में असमर्थ रहा। तत्पश्चात् केवल इन्द्र उस पुरुष का परिचय जानने में समर्थ हुए। इस घटना के बाद देवता-गण इस तथ्य को भलीभाँति समझ सका था कि उसमें जो शक्ति है वह उनकी अपनी शक्ति नहीं है। उनकी (विराट् पुरुष की) शक्ति से ही वे शक्तिमान हैं। उन सबों की खण्डसत्ताएँ उन्हीं की आज्ञाकारिणी मात्र हैं। इसीलिए उनके भय से सभी देवता तटस्थ हैं।

भद्र—वे मंगल स्वरूप हैं, शिवस्वरूप हैं। उनकी चिन्ताधारा जीव समूह एवं जगत् को कल्याण के पथ पर, श्रद्धा के पथ पर, लिए चल रही हैं। उनके समान कल्याणकृत् और न कोई हुआ है और न होगा। इसीलिए वे भद्र पदवाच्य हैं।

मृत्युर्मृत्युः—यहाँ पर मृत्युर्मृत्यु शब्द के अर्थ दो प्रकार के हैं। प्रथम अर्थ है मृत्यु उनसे भय पाती है। उनके निर्देशानुसार ही वह सदा जीवों के पीछे-पीछे चकती है अर्थात् जीव मरण से जितना

ही मय खाता है, मृत्यु भी उतना ही उनसे भय खाती है। इसीलिये वे मृत्युमृत्यु हैं और दूसरा अर्थ है कि इस परिदृश्यमान जगत् में सभी वस्तुओं की मृत्यु होने पर भी मृत्यु की मृत्यु नहीं होती है। अर्थात् जीव एक बार नहीं मरता है, बार-बार मरता है—मरने के बाद जन्म पाता है और फिर बार-बार मरता है और जन्म लेता है। इसी तरह अजस्र मरण अजस्र बार उसके सामने आता-जाता रहता है। किन्तु इस पुरुषोत्तम में जो स्थानलाभ करता है उसकी महामृत्यु होती है अर्थात् उसकी लौकिक मृत्यु उसकी शेष मृत्यु है अर्थात् उसकी लौकिक मृत्यु के साथ-साथ मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है। उसके बाद परवर्ती मृत्यु की सम्भावना नहीं रहती है। जीव उनकी कृपा से ही यह महामरण प्राप्त करता है। इसीलिये वे मृत्युमृत्यु हैं। उसी पुरुषोत्तम को मैं नमस्कार करता हूँ।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि यह पुरुषोत्तम क्या तुरीय से अभिन्न है? यदि पुरुषोत्तम और तुरीय भाव अभिन्न हो तो उनके लिए उग्र, वीर प्रभृति विशेषण किस प्रकार प्रयुक्त हो सकते हैं? वस्तुतः ये सभी शब्द अक्षर ब्रह्म की वस्तुलिप्त (गुणाधीन नहीं) विशेष-विशेष अवस्था के सम्बन्ध में ही कहे गए हैं। इस अवस्था या इन अवस्थाओं को दूसरे शब्दों में कूटस्थ अवस्था कह सकते हैं। उनको विशुद्ध तुरीयावस्था के लिए इन शब्दों का प्रयोग बांछनीय नहीं है। तुरी-

यावस्था के प्रथम तीन पाद में प्रकृति के स्फुट या अर्धस्फुट ब्रभाव के कारण जहाँ पर प्रकट या अप्रकट भाव में उनका साक्षित्व रह जाता है उसी को पुरुषोत्तम भाव कहा जा सकता है। तुरीयावस्था के चतुर्थ पाद में अर्थात् अविकल्प अवस्था में वस्तुलिप्त भाव न रहने से वह विशुद्ध निगुणावस्था या विशुद्ध तुरीयावस्था या निरक्षर अवस्था है। इस अवस्था को ईश्वरप्राप्त भी कहा जाता है कारण ईश्वरीय समस्त विभूतियों की ही वहाँ पर परम परिसमाप्ति होती है।

ब्रह्मचक्र में नृसिंह या पुरुषोत्तम ही मूल व्यूह हैं और वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र प्रभृति उपव्यूह हैं। इसके लिए नृसिंह की उपासना को पञ्चव्यूहात्मक उपासना कहते हैं, और अनुष्टुप् मन्त्र इस पञ्चव्यूहात्मक नृसिंह के लिए ही रचित हुआ है।

प्रसंगवश कई बार तुम लोगों के समीप प्रणव या ओङ्कार † की बातें मैंने कही हैं। यहाँ साधारण मन में प्रश्न उठ सकता है कि प्रणव और अनुष्टुप् इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है अथवा यदि दोनों समान हैं तब इनके प्रथक् अस्तित्व की आवश्यकता क्या है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अनुष्टुप् केवल पुरुषोत्तम के लिए व्यवहृत होता है किन्तु प्रणव या ओङ्कार सम्पूर्ण ब्रह्मचक्र के लिए व्यवहृत होता है। अनुष्टुप् केवल मूलव्यूह के लिए और ओङ्कार पञ्चव्यूह युक्त समग्र ब्राह्मी-विकाश के लिए व्यवहृत होता है। तब बाध्य

† ओङ्कार का शुद्ध उच्चारण Onm̐kāra या Onun̐kāra, बंगला में "ॐकार" है। लिपिगत अनुविधा के कारण इस पुस्तक में ओंकार वा ओङ्कार लिखा गया है।

होकर यह कहना पड़ता है कि ओङ्कार अनुष्टुप् की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अनुष्टुप् का स्थान भी ओङ्कार के मध्य ही है। ओङ्कार अ, उ, म और नाद विन्दु चार पादों में रचित है। इनमें प्रथम तीन पाद सगुण के बोधक हैं और नाद विन्दु निर्गुण का।

“भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यन्वान्य

त्तिकात्तातीतं—तदोप्योङ्कार एव।”

— नृसिंह तापनीय श्रुति

Bhūtam bhavadbhaviśyaditi sarvamounkāraeva

Yacānvaltrikā lātiitam tadapyounkāraeva

(Nrsimha Tāpanīya shruti)

अर्थात् अतीत, वर्तमान और भविष्यत् ये सभी ओङ्कार में विवृत हैं। कारण, ओङ्कार सगुण ब्रह्म के स्पन्दनिक विकास की ही शाब्दिक अभिव्यक्ति है। इसीलिए जहाँ सृष्टि है, वह अतीत, वर्तमान और भविष्य क्यों न हो, ओङ्कार से पृथक् नहीं रह सकती है। जहाँ पर सृष्टि का विकास है वहाँ देश, काल, पात्र भी रहेगा। सगुण ब्रह्म की कल्पनाधारा के साथ-ही-साथ उनकी भी सृष्टि हुई है, हो रही है और होगी एवं इस ओङ्कारात्मक कल्पनाधारा को छोड़कर सगुण ब्रह्म का यह अस्तित्व नहीं रह सकता। इसीलिए कहा था कि सगुण ब्रह्म का अस्तित्व, केवल सगुण ब्रह्म का ही क्यों सभी वस्तुओं का अस्तित्व उनकी क्रिया के परिमाण के ऊपर निर्भर

करता है। क्रिया की गतिशीलता के ऊपर मन की कल्पना-विशेष का नाम काल है। ठीक है न? मन की सहायता से इस गतिशीलता को ग्रहण करने वाला ही पात्र है और पात्र एवं काल का सम्बन्ध स्थापित करने वाली सत्ता ही देश है। तीनों का अस्तित्व मानसिक क्रियाशीलता पर अर्थात् कल्पनाधारा या ओङ्कार के ऊपर निर्भरशील है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, वर्षा के आरम्भ से लेकर वर्षा के अन्त तक, सब कुछ ही काल की सुविस्तीर्ण परिधि के अंगीभूत है। अतः वे ओङ्कार के ही विकास हैं। किसी विशेष प्रान्तविन्दु से एक दूसरे प्रान्तविन्दु का दूरत्व कितना ही अल्प या अधिक क्यों न हो, वह देशिक सत्ता की सुविमृष्ट परिधि के अंगीभूत है; अतः वह ओङ्कार का ही विकास है। इसीलिये कहा था कि काल के परिमाण के भीतर जो कुछ भी हमलोग सोच सकते हैं या नहीं सोच सकते हैं, वे सभी ओङ्कारगत हैं। सगुण-ब्रह्म देश, काल, पात्रात्मक होने के कारण सोपाधिक हैं। वे निर्गुण ब्रह्म की तरह निरुपाधिक सत्ता नहीं हैं। देश, काल और पात्र ये भी सोपाधिक हैं और परनिर्भरशील हैं। इसीलिए ये भी परम सत्य (Absolute truth) नहीं हैं, आपेक्षिक सत्य (Relative truth) हैं। शास्त्र में कहा है—

‘प्रणवात्मकं ब्रह्म’ (त्रिपाद-विभूति-नारायण-भुक्ति) तस्य
वाचकः प्रणवः”

(पातञ्जलि)

तब क्या सृष्टि, स्थिति एवं लय अ, उ, म युक्त प्रणव ही समग्र ब्राह्मी सत्ता का वाचक या द्योतक है? यदि ऐसा हो तो ब्रह्म भी आपेक्षिक सत्य हो जायेगे। संस्काराधीन जीव, दग्ध बीज, कैवल्यसिद्ध और सगुणब्रह्म में कोई भेद नहीं रहेगा। इस अवस्था में सगुण ब्रह्म के ऊपर कोई निर्गुण सत्ता की भी साधना या सिद्धि के लिए आवश्यक नहीं है। इसीलिए कहता हूँ कि ओङ्कार केवल प्रथम तीन पाद में ही पूर्ण ब्राह्मी सत्ता का द्योतक या वाचक नहीं। उसका एक चतुर्थ पाद भी रहता है। सात्त्वित्वयुक्त पुरुषोत्तम इस चतुर्थ पाद में अर्थात् अर्धमात्रा में ही स्थित है। इसीलिए हमलोग देखते हैं कि अ, उ, म और अर्धमात्रा ये ही यथा क्रम से सृष्टि, स्थिति लय और सात्त्वित्व इन्हीं चारों के द्योतक हैं। पूर्व ही कह चुका हूँ कि विशुद्ध विचार से ये पुरुषोत्तम निर्गुण नहीं हैं। क्योंकि, इनका सात्त्वित्व या वस्तुलिप्त भाव रह गया है। इसीलिए वस्तुलिप्त भाव के बाहर विशुद्ध निर्गुण सत्ता में जब साधक स्थिति लाभ करता है तब ओङ्कार का अवशेष नहीं रहता है। ओङ्कार भूत, मविष्य और वर्तमान इन तीनों को ही धारण किए हुए हैं और कालातीत तुरीय अवस्था का भी प्रथम तीनपाद ओङ्कार ही है।

पहले ही कहा जा चुका है कि ओङ्कार स्फुरण क्रिया की ध्वनि है, प्रकाश का बीज है। कालातीत के वक्ष पर सृष्टि स्थिति एवं लय की क्रिया तरंगों जब तक उठती रहती है तब

तक ओङ्कार सृष्टि, स्थिति एवं लय के बीज के रूप में अर्थात् अ, उ, म के रूप में रह जाता है। इसीलिए कहता हूँ कि ओङ्कार उच्चारण करने की वस्तु नहीं हैं। ओङ्कार श्रवण करने के लिए है। मनुष्य का कण्ठ उस ध्वनि को ठीक-ठीक भाव से रूप नहीं दे सकता है। इसीलिए उसके उच्चारण की वृथा चेष्टा मत करो। इस ओङ्कार के प्रकाशमान रूप को पकड़ कर साधक पहले अर्धमात्रा से और इसके बाद तुरीय के चतुर्थ पाद में निर्गुण, निष्कल ब्रह्म में उपनीत होता है—ईश्वर प्राप्ति में परमाशान्ति प्राप्त करता है। यम ने नचिकेता को कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति, तत्ते पदं संप्रहेण

ब्रवीम्योमित्येतत्

(काठकश्रुति)

इसीलिए समझो कि ओङ्कार सगुण और निर्गुण दोनों का द्योतक है। ओङ्कार में व्यवहृत विन्दु (·) निर्गुण के (प्रथम तीन पादों का) बोधक है। अ, उ, म सगुण का बोधक है और नाद चिह्न (—) सगुण-निर्गुण का पार्थक्य निर्धारक है। विन्दु का विशद वर्णन नहीं किया जा सकता है। इसीलिए विन्दु को निर्गुण ब्रह्म के बोधक के रूप में व्यवहार किया गया है। विन्दु का अवस्थान तो है परन्तु परिमाण नहीं है।

पुठपोत्तम का लक्षण उसके पूर्व कह चुका हूँ। अब

सगुण ब्रह्म का लक्षण कहूँगा । इस बात को कहकर समाप्त नहीं किया जा सकता है, तो भी वेद की भाषा में जितना कहा गया है उससे ही कहूँगा । भाषा में सगुण ब्रह्म की ओर से कैवल्य श्रुति में कहा गया है :—

“मय्येव सकलं जातम्
मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्
मयि सर्वं लयंयाति
तद् ब्रह्माद्वयमस्यहम्
जायते स्वप्न सुषुप्त्यादि
प्रपञ्चं यद् प्रकाशते
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा
सर्वबन्धैः प्रमुच्यते”

ऋग्वेद में कहा है--

“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म”

महानिर्वाण तन्त्र में कहा गया है--

“यतो विश्वं समुद्भूतं
येन ज तश्च तिष्ठति
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते
ज्ञेयं तद् ब्रह्मलक्षणैः । ”

नृसिंह उच्चार तापनीय श्रुतिमें कहा गया है--

“सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म तमेतमोत्मानमोमिति ब्रह्मण्ये
कीकृत्य ब्रह्मचात्मना ओमित्येकीकृत्य तदेकमजरममृतमभय
मोमित्यनुभूय तन्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरं आरोप्य तन्मयं हि
तदेवेति संहरेदामिति । ”

जो कुछ तुम देखते हो, चिन्तन करते हो या अनुभव
करते हो, जो कुछ तुम्हारे दर्शन, चिन्तन या अनुभव के
बाहर है, सब कुछ ही सगुण ब्रह्म या ओङ्कार है । तुम्हारा
आत्मा भी ब्रह्म ही है । तुम्हारा अस्तित्व या जगत् एवं
ब्रह्म और ओङ्कार के बीच एकीभाव है । तुम्हारा अस्तित्व,
जगत् या ब्रह्म ये सब पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं । इस जड़
जगत् के साथ अपने आत्मिक अस्तित्व को ब्रह्म के साथ
एकीभाव कर दो, तब केवल मात्र अपने को ओङ्कार स्वरूप ही
पाओगे अर्थात् उस अवस्था में ओङ्कार के साथ तुम्हारा एकी-
भाव होगा । इसी प्रकार ओङ्कार के साथ अपने को एकी-
भाव में प्रतिष्ठित करने पर केवल एक सत्ता बच रहेगी—
विकृति जिसका स्वरूप नहीं है । वह अवस्था विकृति रहित
है । क्योंकि विकृति के लिए दो सत्ताओं की आवश्यकता है ।
जहाँ पर वे ही एकमात्र सत्ता हैं, वहाँ विकृति का सुयोग कहाँ ?
यदि केवल दूध ही हो और दध्यम्ल (जोड़न) न हो तब दूध
से दही रूप में क्या विकृति सम्भव है ? अर्थात् दूध को
दही में परिणत करने के लिए दूसरी सत्ता दध्यम्ल का प्रयो-
जन अपरिहार्य है । इसीलिए एकत्व के कारण ब्रह्म

अजर हैं ।

ठीक उसी प्रकार जहाँ मात्र एक ही सत्ता रहती है वहाँ मृत्यु भी नहीं रह सकती क्योंकि, मृत्यु भी तो एक प्रकार अवस्था भेद मात्र है । मृत्यु विकृति है । जहाँ मृत्यु नहीं, वहाँ विकृति नहीं है । अतः ओङ्कार अमृतत्व में प्रतिष्ठित है । ठीक उसी प्रकार मय रहने से बाकी दो सत्ताओं के रहने का भी प्रयोजन है— जो मय पाता है और जिस कारण से मय पाता है । जहाँ केवल एक ही सत्ता रहती है, वहाँ कार्य-कारण पृथक्भाव से नहीं रहने से मय भी नहीं रह सकता । इसीलिए वह महत्पद अमय है । उस पद पर पहुँचने से जैव सत्ता भी अभय हो जाती है । साधक रामप्रसाद ने कहा है—

“अमय पदे प्राण संपेछि

आर कि शमनमय रेखेछि ।”

इसी अविकृत, अमर, अमय ओङ्कार में तुमलोग त्रिशरीर को आरोपित करो । जीवमात्र ही चार सत्ताओं की समष्टि है, जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति और स्वरूप । यहाँ पर त्रिशरीर से जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति का बोध होता है, ये अर्थात् यही तीन शरीर चतुर्थ अवस्था अर्थात् स्वरूप की ही विकृति है । इसी त्रिशरीर को ब्रह्म में अर्थात् ओङ्कार में आरोपित कर दो एवं तद्भाव में ही तन्मय हो जाओ । उस अवस्था में यह भावना जगेगी कि मैं ओङ्कारात्मक हूँ अर्थात् मैं स्वयं ही

आँझार हूँ एवं मैं अपने स्वरूप और स्वभाव में ही रहता हूँ इसीलिए कहता हूँ कि जीव में जब कभी कोई जड़ चिन्ता जगे उसमें ब्रह्मभाव का आरोप करना उचित है और ऐसा करने से किसी अवस्था में भी उसको आँझार से पृथक् होकर नहीं रहना पड़ेगा। यह त्रिशरीर क्या है ? इसका क्या रूप है ? ये किसके हैं ? यह भी मनुष्य के मन का एक स्वामाधिक प्रश्न है यह त्रिशरीर केवल जीवों में ही रहता है या ब्रह्म में भी ?

“त्वं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं एवं

ब्रह्मात्मानुसन्दध्यात् ।”—(अथर्व)

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भेद के कारण जीवों का त्रिशरीर रहता है और इन्हीं तीन अवस्थाओं में ही वह अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता है। जैब या ब्रह्म दोनों सत्ताओं का अवस्थाभेद गुणगत भेद से निर्धारित होता है। यह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यादि अवस्था भेद सत्त्व रजः और तमोगुण के न्यूनाधिक्य के कारण घटित होता है।

जैव विकाश जीवों का लुप्त देह केन्द्रकमात्र है, किन्तु ब्राह्मी विकाश यह अतिबृहत् विश्वब्रह्माण्ड है। पूर्व ही कहा है कि ब्राह्मीविकाश में भी तीनों गुणों की ही क्रियाशीलता रहती है और जहाँ पर ब्राह्मीविकाश के तीनों ही गुण प्रकट अवस्था में रहते हैं, जीवों की तीनों अवस्थाओं की स्थिति केवल वहीं या उसी समय हो सकती है। इसका कारण यह है कि जीवों का स्थूल-सूक्ष्म और कारणात्मक अस्तित्व सम्पूर्णतः ब्रह्म

की कल्पना के ऊपर निर्भरशील है। उनका स्थूल शरीर ब्रह्म के कल्पनासृष्ट पञ्चभूतात्मक जागतिक उपादानों से निर्मित हुआ है अर्थात् उनके काममयकोश में ही सृष्ट हुआ है। ब्रह्म के इसी काममयकोश से ही जीवात्मा की अजस्र—संख्यक देह निर्मित होती है, क्योंकि उनको अपने व्यष्टिभाव की रक्षा के लिए आधारगत भेद रखना ही होगा अन्यथा उनमें स्वतन्त्रता नहीं रहती। ब्राह्मीकल्पना की धारावाहिकता रखने के लिए मनोमय जगत् में जो वस्तुभेद अपरिहाय हो जाता है उसी के लिए जीवों की अजस्र-संख्यक देहसृष्टि का निश्चय ही प्रयोजन भी अवश्य ही रह जाता है। अन्यथा वस्तुगत भेद नहीं रहने से कल्पना भी स्थाणु हो जाती है। अभुक्त संस्कार के क्षय के लिए सगुण ब्रह्म को जब कल्पना करनी ही होगी उस समय भेदात्मक जगत् की सृष्टि करना ही उनका धर्म हो जाता है। जीवों का कर्म और प्रतिकर्म भोग इन्हीं आधारों के माध्यम से होता रहता है और यह जैवसत्ता जब ब्राह्मीसत्ता से अपना पृथक् अस्तित्व त्याग करती है उस समय पृथक् भाव से कर्मफल भोग का कारण न रहने से अर्थात् भव-विमुक्त होने के कारण उसकी स्वतन्त्र दैहिक सत्ता भी नहीं रहती है।

यह परिदृश्यमान जगत् जो पञ्चभूत नाम से कथित है वह ब्रह्म का काममय-शरीर है अर्थात् उनकी मान्स-देह है। उनका कोई सीमित जड़ शरीर नहीं है और इसीलिए उनके जड़शरीर को केन्द्र कर कोई जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था नहीं

होती है—उनका सब कुछ ही मानसिक है ।

जाग्रदवस्था या प्रथमपाद —

स्थूलत्वात् स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्या-
दानन्दमोगाच्च

सोऽयमात्मा चतुष्पाञ्जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञ सप्ताङ्ग
एकोनविंशति—

मुखः स्थूलभुक् च भूरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः ।

*Sthūlatvāt sthūlabhuktvācca su'kśmatvāt
su'kśmabhuktvāccaekyā dānandabhogācca so'ya-
mātmā catus'pājjā garitasthā nah sthūlapraji-
nā saptāṅga ekonaviṁśatimukhah sthūla-
bhuk ca bhūrátmā vishvo vaeshvá narah pratha-
mah pádah.*

जाग्रत् अवस्था ही आत्मा की स्थूलतम अवस्था है क्योंकि इसी अवस्था में उसका उपजीव्य है स्थूल जगत् से तन्मात्र ग्रहण करना या उसके सम्बन्ध में कामना करना, कामना को कार्यरूप देना तथा कामना को बहिर्मुखी करना । उसका संवेदन भी स्थूल मोगात्मक है । संवेदन का परिणति-रूप कार्य भी स्थूल मोगकेन्द्रिक होता है । इसीलिए जाग्रत् अवस्था में वह स्थूलभुक् है अर्थात् स्थूल जगत् उसका मध्य है । जाग्रत् अवस्था में वह सूक्ष्मभुक् भी है क्योंकि इन स्थूलमोगात्मक

क्रियाओं का उत्स सूक्ष्म मानसिकता के मध्य में ही रहता है। उसका प्रकृतभोग यथायथ विचार से मानसिक स्तर में ही रहता है। मन ठीक नहीं रहने से सुदृश्य, सुखाद्य और सुपेय का भी भोग ठीक तरह से नहीं किया जा सकता है। इस जाग्रदवस्था में आत्मा को चतुष्पाद कहा जाता है अर्थात् उस समय प्रकट या अप्रकट भाव से इनकी चारो अवस्थाएँ ही रहती हैं। अर्थात् प्रकटभाव में जाग्रदवस्था रहती है और उसके बीच अप्रकट भाव से स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था रह जाती है। यह जाग्रत अवस्था स्थूलप्रज्ञ है अर्थात् स्थूल वस्तुओं का ज्ञान आहरण करना ही इसका काम है अथवा स्थूल ज्ञान या जाग्रदवस्था के द्वारा इसकी उपलब्धि की जाती है। यह स्थूलप्रज्ञ जाग्रदवस्था समाङ्ग अर्थात् सप्तचक्रात्मक - पञ्चभूतगत चित्ता महत्तत्त्व और अहं तत्त्व हैं। इसके उन्नीस मुख हैं अर्थात् इसके विकाश उनविंशत्यात्मक हैं—अर्थात् दश इन्द्रियाँ, पञ्चवायु, चित्ता, महत्तत्त्व, अहं तत्त्व और मूलाप्रकृतियुक्त हैं। इस जाग्रदवस्था में सर्ववस्तु ही इनका भक्ष्य हैं, इसीलिए इन्हें विश्व या वैश्वानर कहा जाता है। आत्मा का यही प्रथम पाद है। जाग्रत अवस्था के अमिमानी साक्षी-पुरुष को जीवभाव में विश्व और परमात्म भाव में वैश्वानर या विराट् कहा जाता है।

स्वप्नावस्था या द्वितीयपाद —

“स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः

सूक्ष्मभुक्चतुरात्मा

तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः ।”

“*Svapnasthā nah suḥśmaprajīnah saptaṁ ga
Ekoṇavimśatimukhah suḥśmābhuk*

caturātmā

Taejaso hiraṇyagarbho dvitīyah pādah. •

इस आत्मा की उपजीव्य जब सम्पूर्ण मानसदेह रहती है अर्थात् मोग्यवस्तु चिन्ताजगत् में ही सीमित रहती है उस अवस्था को स्वापिक अवस्था कहा जाता है। स्वप्नावस्था में हस्त-पादादि इन्द्रियसमूह यथायथ भाव से ही रहता है और उन्नीस मुख भी ठीक ही रहते हैं किन्तु उस समय आत्मा स्थूल जगत् से कुछ भक्ष्य ग्रहण नहीं करता है, इसीलिए उस समय आत्मा सूक्ष्मभुक् अर्थात् मानसिक भूमि से गृहीत वस्तु को ही सीधा ग्रहण करता है। उनका व्युत्थान तत्कालीन इन्द्रिय-गृहीत को ही सीधा ग्रहण करता है। उनका व्युत्थान तत्कालीन इन्द्रिय गृहीत तन्मात्रों के ऊपर निर्भर नहीं करता। वह पूर्व-गृहीत तन्मात्रजीव के ऊपर अथवा संस्कार या सर्वज्ञबीज के व्युत्थान तरङ्ग के ऊपर निर्भर करता है। इस समय भी चतुरात्मा रह जाता है अर्थात् जाग्रत्, सुषुप्ति और तुरीय स्वप्नावस्था में निहित रहते हैं। स्वप्नावस्था के अभिमानी जीवात्मा को तैजस और अभिमानी परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहते

कहते हैं ! यहाँ पर एक बात याद रखने की आवश्यकता है कि हिरण्यगर्भ शब्द सगुण-ब्रह्म के लिए व्यापक भाव से व्यवहार किया गया है ।

सुषुप्तावस्था या तृतीयपाद —

“यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति
तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थानः एकीभूतः प्रज्ञानघन एव आनन्दमयो
ह्यानन्दभुक् चेतोभुक् चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ।”

Yatra supto na kaincana kāmam kāmāyate na

kaincana

Snopnam pashyati tatsusuptam susuptasthā-

nah ekiibhūtaḥ

Prajñānāghana eva ānandamayo hyānanda-

bhuk

Cetomukhashcaturātmā prajñaiśhvarastri-

tiyah pādah

सुषुप्तावस्था में जब काममय-कोश या मनोमय-कोश कुछ भी काम नहीं करते हैं अर्थात् आत्मिक आधार में कोई कामनात्मक तरङ्ग नहीं उठती है, किसी प्रकार का स्वप्न भी दिखलाई नहीं पड़ता है, उसी अवस्था को सुषुप्तावस्था कहते हैं । जाग्रदवस्था में काममय-कोश और मनोमय-कोश दोनों ही काम करते रहते हैं । मनोमय-कोश में चिन्ता तरंग उत्पन्न होती है उसके बाद

काममयकोश के माध्यम से वे कार्यान्वित होती हैं। जाग्रदवस्था में काममय-कोश की भूमिका ही प्रधान है। किन्तु स्वप्नावस्था में मनोमय-कोश शारीरिक जड़ता के कारण काममय-कोश का ठीक रूप से नियन्त्रण नहीं कर सकता है। इसीलिए वहाँ मनोमय-कोश ही प्रधान है। किन्तु सुषुप्तावस्था में दैहिक जड़ता के साथ-साथ चिन्ता करने की शक्ति भी अर्थात् मनोमय कोश भी निष्क्रिय हो जाता है - रह जाता है केवल कारण मन अर्थात् अतिमानसकोश, विज्ञानमयकोश और हिरण्यमयकोश। इस सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न तब किस प्रकार होता है? अर्थात् सुषुप्ति और जाग्रन् के बीच में स्वप्न का स्तर कैसे बढ़ता होता है?

स्वप्न क्या है? विशेष-विशेष इन्द्रियगृहीत भाव जब काममय कोश को आन्दोलित कर देते हैं अथवा कामयकोश में इन्द्रियात्मक या जड़ात्मक किसी भावधारा के उपभाव से उठने पर उस समय काममय-कोश का तथा मन का स्थूल आधार स्नायुपुञ्ज चञ्चल हो उठता है एवं स्नायुकोश में उस चञ्चलता की छाप रह जाती है। यह छाप अपनी गुरुता के अनुसार कभी अल्पस्थायी, कभी दीर्घस्थायी होती है। गुरुत्वपूर्ण छाप भी कभी-कभी विरुद्धधर्मी आन्दोलन या चञ्चलता के प्रभाव से उससे उत्पन्न नवीन छाप को ग्रहण करने के लिए बाध्य हो जाती है और पूर्व गृहीत छाप का दीर्घस्थायित्व नष्ट हो जाता है। निद्रित अवस्था में यदि कभी शारीरिक कारण से मनुष्यों के स्नायुतन्तु चञ्चल हो जाते हैं और उसके फलस्वरूप अथवा

उग्रभाव से चिन्ता करने के कारण मस्तिष्क-सञ्जात उत्ताप के कारण भी बहुधा स्नायुकोश में चञ्चलता आ जाती है। यह चञ्चलता स्नायुकोश में सञ्चित छाप के ही अनुरूप मानसभूमि में वृत्ति उत्पन्न करता है। इस तरह आन्दोलित चित्त (मनोमय-कोश) उस समय एक या एकाधिक छाप से उत्पन्न कल्पनाधारा को सत्यवस्तु मानकर ग्रहण करता है। स्थूल इन्द्रियाँ काम बन्द करने के फलस्वरूप पूर्व गृहीत वृत्तियों से उद्भूत तदाकार आप्त वृत्तियाँ उस समय कल्पना के रूप में मालूम नहीं होती। परन्तु वे वास्तव रूप में ही प्रतिभात होती हैं। ऐसा स्वप्न अधिकांशतः मिथ्या होता है, क्योंकि वास्तव में ये सब सिर्फ कल्पनामात्र हैं अथवा विभिन्न विच्छिन्न कल्पनाधाराओं का एक साथ संग्रथन हैं अर्थात् जिसे हम घरेलू भाषा में उलटा-पुलटा स्वप्न कहते हैं। मस्तिष्क अथवा मस्तक के रोगग्रस्त होने पर अथवा बहुत दिनों तक रोगी रहने के कारण जिनके स्नायु-तन्तु दुर्बल हो गए हैं अथवा जिनके पाकयन्त्र दुर्बल हो गए हैं, वे ही साधारणतः ऐसे कामनात्मक स्वप्न देखते हैं। इसका नाम कामज स्वप्न (Dream) दिया जा सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि ये स्वप्न पूर्व चिन्तित विषयों या पूर्व चिन्ता समूह को यथायथ अथवा विच्छिन्न अभिव्यक्ति हैं। अति भोजन के फलस्वरूप भी लोग इस प्रकार का स्वप्न देखते हैं। जिनकी चिन्ता पवित्र रहती है, जिनके विचार पवित्र रहते हैं और

मोजन में भी संघम रहता है वे साधारणतः इस प्रकार का स्वप्न कम देखते हैं। इस प्रकार का स्वप्न कभी भी गभीर निद्रावस्था में नहीं होता।

स्वप्न एक प्रकार का और होता है। जब मनुष्य घोर निद्रा में रहता है उस समय भी उसके मनोमयकोश में बड़ी विपत्ति, सुसंवाद या दुःसंवाद स्वप्न रूप में उदित होता है। सर्वज्ञ कारणमन काममय और मनोमय कोशों की चञ्चलता के कारण तथा अपनी प्रकाशगत अक्षमता के कारण अपनी इस सर्वज्ञता के स्फुरण को प्रकाश नहीं कर सकता। किन्तु जिन समस्त विषयों में व्यक्ति विशेष विशेष-भाव से लगा हुआ है अथवा जिस विषय से कोई व्यक्ति विशेष भाव से अभिभूत हो सकता है तत्संक्रान्त अतीत, वर्त्तमान या अनागत के भाव को यह कारणमन घोर निद्रा में पड़े हुए मनुष्य के शान्त मनोमय या काममय—कोश में जगा दे सकता है। कारणमन के उत्स से आगत स्पन्दन धारा जब मनोमयकोश को स्पन्दित कर देती है वह भी एक प्रकार का स्वप्न ही है और वह स्वप्न निरर्थक नहीं है, क्योंकि, उसका प्रेरक सर्वज्ञ कारणमन है। इसका नाम ज्ञानज स्वप्न (Supra mental vision) दिया जा सकता है। कभी-कभी जाग्रदवस्था में भी कारणमन का ज्ञान प्रवाह सूक्ष्ममन में सञ्चारित हो उठता है और इसके फलस्वरूप मनुष्य जाग्रत् अवस्था में भी थोड़ी मानसिक एकाग्रता लेकर बैठे—बैठे दूर के

प्रियजनों की घटनाओं को भी जान सकता है । इसका नाम प्रतिसंवेदनिक—तथ्यानुभूति (Telepathic vision) दिया जा सकता है । इसी प्रतिसंवेदनिक तथ्यानुभूति की घनीभूत अवस्था में अर्थात् जब स्थूलमन अधिकतर स्थिरी-भाव प्राप्त करता है, मनुष्य दूरस्थ प्रियजन से सम्बन्धित घटना को आँखों के सामने बहिर्जगत् में भी देख सकता है या देख लिया है ऐसा अनुमान कर सकता है । इसका नाम प्रतिसंवेदनिक-दिव्यदृष्टि (Telepathic-clairvoyance) दिया जा सकता है । इन चीजों को बहुत लोग प्रेतात्मा की क्रिया समझकर प्रेततत्त्व में विश्वास कर बैठते हैं । वास्तव में, प्रेतात्मा के साथ इन सब घटनाओं का कोई सम्पर्क नहीं है । प्रतिसंवेदनिक-तथ्यानुभूति और प्रतिसंवेदनिक दिव्य दृष्टि ज्ञानज स्वप्न की ही स्वगोत्रीया हैं । ब्रह्माण्डज्ञ कारणमन से ही ये भाव या अनुभूति पाकर सृष्ट होती हैं । भूत-प्रेत में विश्वास करना प्रागैतिहासिक मानवों की भीरु मानसिकता का ही बलपूर्वक समर्थन करने के सिवा और कुछ नहीं है । तब काममयकोश की क्रियाशीलता के कारण ज्ञानज स्वप्न की तुलना में प्रतिसंवेदनिक तथ्यानुभूति बहुत कम ही होती है और प्रतिसंवेदनिक दिव्यदृष्टि की घटना हम और भी कम देख पाते हैं । यद्यपि ज्ञानज स्वप्न स्वयं ही मनुष्य के जीवन में आठ दश बार से अधिक होते हुए साधारणतः नहीं देखा जाता है । इस प्रसङ्ग में यह कहना अच्छा होगा कि साधना या

संस्कारगत कारणों से इनके आवागमन की अल्पता या अधिकता प्रायः सोलहो आना निर्भर करती है। (यह समझना होगा कि स्वकृत-तथ्यानुभूति या स्वकृत-दिव्यदृष्टि कुछ अन्य ही वस्तु है)

ज्ञानज स्वप्न में भी मनुष्य बहुत बार ठीक-ठीक विषय की उपलब्धि नहीं कर पाता है, क्योंकि, वहाँ साधारणतः उसके व्यक्तिगत संस्कार के माध्यम से ही इस बोध-तरङ्ग का स्फुरण हो उठता है। जैसे, मान लो किसी देश में कृषिकार्य, तैल-बीज पेषण, गाड़ी चलाने आदि कार्यों के लिये गौ अपरिहार्य है। स्वाभाविक नियमानुसार उस देश के मनुष्य गौ को अधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे और शिशुकाल से गो-दुग्ध पान करने के कारण उसे माता के समान पूजनीय मानेंगे। वे स्वस्थ सबल एवं सुलक्षण गौ को सौभाग्य का प्रतीक मानेंगे। ये सब उनके गौ-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रयोजन से उत्पन्न संस्कार हैं। मानो, उस देश के किसी मनुष्य ने स्वप्न देखा कि कोई गौ पुआल खाते-खाते कृश से कृशतर होता जा रहा है। एक गौ और आया उसकी भी वही अवस्था हुई। एक गौ और आया उसकी भी अवस्था वैसी ही हुई। †† इस स्वप्न से इस प्रकार का अर्थ लिया जा सकता है कि लगातार तीन वर्ष अकाल आने की सम्भावना है। गौ एवं धान को सौभाग्य का प्रतीक मानने के कारण वह कृश गौ और सूखा धान के माध्यम से दुर्भाग्य

†† परन्तु ऐसा चिन्तन उसने बिजकुल नहीं किया था।

का संकेत पाता है। अतः स्वप्न के माध्यम से सत्य जानने के लिये मनोमय और काममय कोश के ऊपर मनुष्य को कुछ अधिक परिमाण में अधिकार रखने की आवश्यकता है। जिन्होंने साधना के द्वारा मनोमय और काममय कोशों को संयत कर लिया है वे जाग्रदवस्था में भी अतीत, वर्तमान या भविष्य का चित्र अल्प चेष्टा के द्वारा देख सकते हैं। ध्यान योग में मुनि ऋषियों का दिव्य दर्शन या दूर दर्शन भी ठीक इसी प्रकार का है। स्फटिक दर्शन, नखदर्पण, मुकुर दर्शन आदि की सहायता से भी बहुधा अतीत, भविष्यत् या दूरदर्शन की क्षमता साधारण मनुष्य में भी कुछ-कुछ प्रकट होती हैं। वह भी और कुछ नहीं है। उज्ज्वल वस्तुविशेष की ओर आप्रह्व केन्द्रीभूत करने से काममय और मनोमय कोश कारण-मन में आंशिक भाव से समाहित होने के कारण ज्ञानभूमि की व्याप्ति हो जाती है। Hypnotised (सम्मोहित) अथवा प्लैनचेट में आविष्ट अवस्था में भी काममय और मनोमयकोश का कार्य स्थितिमत् होने के फलस्वरूप अन्ततः उसी अवस्था मात्र के लिए व्यक्ति विशेष के ज्ञान की परिधि कुछ बढ़ जाती है। तब एक बात यहाँ अच्छी तरह ध्यान में रखनी होगी कि जिस किसी विषय के सम्बन्ध में किसी के मन में यदि कोई संस्कार या पूर्वगृहीत सिद्धान्त रह जाय वह Hypnotised (सम्मोहित) या आविष्ट अवस्था में अथवा नखदर्पण या मुकुर में अपने संस्कार का ही प्रतिफलन देखेगा। प्रायः शत-प्रतिशत क्षेत्रों

में ऐसा ही होता है अर्थात् आविष्ट मनुष्य अपने संस्कार के अनुसार बातें कहता जाता है और लोग विस्मय से अवाक् होकर उसकी बातों को चरम सत्य मानकर, हाथ जोड़कर उसकी ओर ताक कर बैठे रहते हैं। अवश्य ही जो भूत, प्रेत, ठाकुर, गोसांई आ जाने का अभिनय करते हैं वे आद्यन्त चाल-बाजी करते हैं, शुरू से अन्त तक ढोंग करते हैं। जो अभिनय नहीं करते अर्थात् जिन्होंने निष्ठा के साथ ही भूत-प्रेत, ठाकुर गोसांई का आह्वान किया था (भय या भक्ति से) या प्लानचेट में बैठे थे—उन्हीं के विषय में कह रहा हूँ, —उन सबों के वक्तव्य का भी शत-प्रतिशत भाग अपने पूर्वगृहीत सिद्धान्त या संस्कार की अभिव्यक्ति मात्र ही होता है। उस अवस्था में उनकी कुछ मानसिक एकाग्रता होने के कारण एक-दो आना बात सत्य भी हो जाती है। परन्तु यह सत्य हो जाना भी सब समय कारण मन का इशारा नहीं है, क्योंकि बहुत सी बातों में एकाध दो का सत्य हो जाना साधारणतः कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। वह तो अति साधारण मनुष्य के क्षेत्र में भी हो सकता है। कहा जाता है न—“भड़े काक मरे, फकिरेर केरामति बाड़े,” अर्थात् कौआ तो मरता है तूफान में पर रुधाति फौलती है फकीर की, साधु की। (मूर्ख लोग समझते हैं कि फकीर के अभिशाप से ही कौआ की मृत्यु हुई)।

सुषुप्तावस्था

जिस अवस्था में मनोमय और काममयकोश कोई काम

नहीं करते हैं अर्थात् जब जीव कोई विशेष वासना या कामना लेकर अपने शरीर का नियन्त्रण नहीं करते या कोई स्वप्न भी नहीं देखते, शास्त्रीय भाषा में उसको ही सुषुप्तावस्था कहा जाता है अर्थात् कामना करने पर या स्वप्न देखने पर उस समय उसको सुषुप्ति नहीं कहेंगे। मन का उस समय कोई विशेष चिन्तागत या बाह्यिक विकाश नहीं रहने से जीवों के लिये वह प्रज्ञानघन अवस्था है। इसी प्रज्ञानघनत्व के लिए जीव उस समय एक विशेष आनन्द उपभोग करता है। स्थूल, सूक्ष्म मन की क्रिया नहीं रहने से सुख या दुःख, हर्ष या बिषाद वह कुछ भी समझ नहीं सकता। इसी लिए उस अवस्था में वह एक विशेष प्रकार का आनन्द ही पाता है। जाग्रत् या स्वप्नावस्था में स्थूल और सूक्ष्मस्तर में वस्तु दर्शन होता रहता है, इसीलिङ्ग वस्तुगत भेद भी उस अवस्था में रहता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में स्थूल और सूक्ष्मात्मक क्रिया नहीं रहने के कारण वस्तुगत भेदज्ञान भी लुप्त हो जाता है अर्थात् जागतिक सभी वस्तुएँ ही उसके समीप एकीभूत हो जाती हैं। भेद राहित्य अवस्था एक विशेष प्रकार के आनन्द की अवस्था है और इसी कारण जीव सुषुप्तावस्था में आनन्द पाता है। किन्तु यह जो सुषुप्ति का एकीभाष है यह ठीक आत्मव्याप्ति की अथवा कैवल्य की अवस्था नहीं है। वस्तुगत भेदज्ञान दो तरह से लुप्त हो सकता है। अत्युज्ज्वल ज्योति से भी वस्तुभेद

लुप्त हो जाता है, कारण उस समय सभी वस्तुएँ ज्योति-स्वरूप प्रतिभात होती हैं और चरम अन्धकार में भी वस्तु-गत भेदभाव लुप्त हो जाता है। उस समय केवल एक सूचीभेद्य अन्धतमिस्रा परिदृष्ट होती है जिसमें सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी रूपरेखा खो बैठती हैं। निद्रा का एकीभाव वह मोहात्मक अन्धकारात्मक एकीभाव है अर्थात् वस्तु-दर्शन की क्षमता ठीक ही रहती है, वस्तु भी ठीक रहती है केवल उनको देख नहीं सक रहे हैं। इसीलिए निद्रिता-वस्था का आनन्द तामसिक आनन्द है। सुषुप्ति भङ्ग होने के बाद जीवों में स्वप्नावस्था आ जाती है अथवा जाग्रदवस्था आ पहुँचती है। इस जाग्रद और स्वप्नावस्था के सप्ताङ्ग और एकोनविंशति मुख सुषुप्तावस्था में बीज रूप से रह जाते हैं, नष्ट नहीं होते। अतः इस अवस्था में भी पूर्णानन्द हर्गिज नहीं हो सकता है। जीव भाव में इस अवस्था को प्राज्ञ और परमात्म भाव में इस अवस्था को ईश्वर कहा जाता है। सूत्र में जिस तरह मणि गुँथे हुए रहते हैं उसी तरह समस्त जगत् इनमें गुँथे रहने के कारण इनको सूत्रेश्वर भी कहा जाता है। सूत्र ही जीवभाव को घेरे हुए है। कार्पास-सूत्र को ब्रह्मसूत्र या सूत्रेश्वर मानना असंगत है। सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी पुरुष को प्राज्ञ कहने का कारण यह है कि इस अवस्था में सर्वज्ञान शक्ति का बीज उसमें निहित रहता है। ज्ञान है, स्फुरण की

सम्भावना है, किन्तु अन्धकार के कारण भेदज्ञान नहीं है। सुषुप्ति अवस्था ठीक इसी प्रकार की है। जाग्रत और स्वप्नावस्था का बीज इस अवस्था में ठीक ही बचा रहता है। इसीलिए इसका आनन्द पूर्णानन्द नहीं, खण्डानन्द है।

तुरीयावस्था

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्व प्रभवाप्ययौ हि भूतानां त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदे करसो ह्यमात्मा अथ चतुर्थश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वा दे कै कस्योतानुज्ञयात्रनुज्ञाऽविकल्पैस्त्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं माया

Es'a sarveshvara es'a sarvajin, a es'o'ntaryā nmyes'a yonih sarvasya probbhavā pyayao hi bau tā nām trayamapyetat sus'uytamī svapnam māyā mātram cidekaraso hyamātmā atha caturthash-caturātmā turiiyavasitatvā dekaekasyotā nujin, ā-trānujin, ā'vikalpaestrayamatrá pi sus'uptamī svapnam māyā mātram cidekaraso hyathāyam-ādesho na sthulaprajin, am na sūkśmapra-jin, am nobhayatah prajin, am na prajin, am nāprajin, -amē na prajin, anaghanamadrśt'-amavyavaha'ryamagra'hyamalaks'an'amacinty-amavyapadeshyame ka'tmapratyayasāram pra-

-मात्रं चिदेकरसो ह्यथायमादेशो न स्थूल प्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं
नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं ना प्रज्ञं न प्रज्ञानघनम दृष्टमव्य
बहार्थम प्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चो
पशमं शिवं शान्तं अद्वैतं मन्यन्ते । ए एवात्मा स एष
विज्ञेय ईश्वरप्रासस्तुरीयस्तुरीय ।

*pain, copashamam' shivam' shāntam' advaetam'
manyante. Sa evātmā saes'a vijin, eyaiishvara
āgrā sasturiiyasturiiyah*

तुरीय अवस्था सर्वज्ञ या सर्वेश्वर नहीं, क्योंकि कुछ जानने के लिए ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय प्रभृति विभिन्न सत्ताओं की उपस्थिति अपरिहार्य है । किसी पर ईश्वरत्व या नियन्त्रणाधिकार रखने के लिए नियन्ता, नियन्त्रण और नियन्त्रित आदि के अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं है । अतः सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानने का भाव तभी रहता है जब अपनी ज्ञातृ-सत्ता बाकी सब कुछ से अर्थात् ज्ञेयसत्ता - समूह से पृथक् रहती है । सर्वेश्वरत्व के सम्बन्ध में भी ठीक इसी प्रकार की बात प्रयुक्त हो सकती है अर्थात् 'मैं सब कुछ का ईश्वर हूँ' इस भाव में भी सब कुछ से निज स्वरूप का पृथक् भाव रखने की आवश्यकता रह जाती है । तुरीय अवस्था में दूसरी सर्वसत्ताओं का अस्तित्व-बोध नहीं रहता है अर्थात् केवल एक ही सत्ता रहती है इसीलिये तुरीय आत्मा किसी का ज्ञाता नहीं हो सकता है । किसी का ईश्वर भी नहीं

हो सकता है । सर्वज्ञत्व या ईश्वरत्व भावयुक्त आत्मा को प्राज्ञ कहेंगे, तुरीय नहीं । प्राज्ञ ही सब कुछ का मूल है, सब कुछ का प्रेरणादाता है, जगत् के अस्तित्व की सिद्धि का कारण है । इसीलिए उसका शरीर कारण शरीर कहकर परिचित है । वह स्वयं सुषुप्तात्मा या कारणात्मा है । तुरीय साक्षी चैतन्य है और कारण-शरीर या कारण-ब्रह्म ब्राह्मस्फोट का गुणान्वित विकाश विशेष है और यह विकाश खण्ड-खण्ड अनन्त विकाशों के माध्यम से अपने को परम श्रेयत्व के साथ महामिलन की कामना से स्फुरण के पथ पर ले चल रहा है । ब्राह्म स्फोट की गुणान्वित भावधारा विकाश का अर्थात् सञ्चर क्रिया की प्रथमावस्था का नाम ही कारण शरीर है और तदभिमानी पुरुष ही कारणात्मा हैं । कारण शब्द का अर्थ है बीज । इनका शरीर विश्व बीज है, अतः ये कारणात्मा हैं । समग्र विश्व के विकाश का भाव उनकी इसी अवस्था में प्रच्छन्न होकर रहता है और इसीलिए ये सर्वसत्ताओं के मूल द्रष्टा हैं, सर्व विकाशों के मूल भाव के नियन्ता हैं, इसीलिए ये सर्वज्ञ और सर्वेश्वर हैं । प्रति-सञ्चर क्रिया की शेष अवस्था बहुत कुछ संचर की प्रथमावस्था की तरह की है, किन्तु इन दोनों में प्रधान भेद यह है कि सञ्चर-कालीन कारणात्मा बीज के अंकुरोद्गम की सम्भावना से युक्त हैं किन्तु प्रतिसञ्चर का शेष स्तर ठीक इसके विपरीत है अर्थात् अंकुरोद्गम की सम्भावना के अभाव

के कारण ही वह मूल सत्ता में लौट आ रहा है। लौटने के इस पथ के कारण शरीर को विशुष्क विचार से कारण शरीर न कहकर सामान्य शरीर ही कहना अधिक बंगत है।

तुरीय ब्रह्म (नृसिंह या पुरुषोत्तम) कारण शरीर के साथ चार प्रकार के योग या बियोग में रत रहते हैं।

(१) ओत योग

(२) अनुज्ञाता योग

(३) अनुज्ञा योग

(४) अविकल्प योग

(१) ओत योग

जहाँ तुरीय कारण शरीर के ज्ञाता रूप में, सदादिरूप में सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं उनकी उस अवस्था को ओत-योग कहा जाता है। जैसे सूर्य किरणों के माध्यम से अपने ही गुणात्मक विकाश पृथिवी के साथ युक्त होकर रहता है, ओत-योग भी उसी प्रकार का है। यहाँ सूर्य की किरणें सूर्य की ही अवस्था-विशेष हैं और उसी अवस्था विशेष के माध्यम से सूर्य ही पृथिवी से योग युक्त होकर रहता है। ये किरणें पृथिवी तथा अन्यान्य ग्रहों के अणु परमाणु में अनु प्रविष्ट होकर अङ्गाङ्गिभाव से मिली हुई है। पुरुषोत्तम भी ठीक उसी प्रकार स्फुट जीवात्मा या अस्फुट जीवात्मा (जड़ या जगत्) के साथ उनके साक्षी-रूप में अङ्गाङ्गिभाव से उन्हीं के साथ युक्त होकर रहते हैं। तुरीय

की इस योगयुक्त अवस्था को ओत योग कहते हैं । सामान्य भाव से जिसको ओत कहा जाता है, व्यापकभाव से उसी को ही ओत कहा जाता है अर्थात् जिस योग के द्वारा अणु या unit साक्षित्व निष्पन्न होता है, उसका नाम ओत है और समष्टि या collective का साक्षित्व जिसके द्वारा निष्पन्न होता है उसका नाम प्रोत है ।

नृसिंह कारण शरीर के साथ ओतयोग में युक्त हैं, सूर्य कारण शरीर (पृथिवी) के साथ ओत योग में (किरणों के माध्यम से) युक्त हैं, जहाँ पुरुषोत्तम ज्ञातृभाव है, ज्ञेय भाव वहाँ कारण शरीर है, जहाँ ज्ञातृभाव अक्षर हैं, वहाँ क्षर (अर्थात् जो स्वरूप से हट गया है) ज्ञेयभाव हैं, ज्ञातृभाव जहाँ पर अच्युत हैं, ज्ञेयभाव वहाँ च्युत (अर्थात् जो स्वरूप से च्युत हो गया है) है, जहाँ ज्ञातृभाव पर या परब्रह्म है, ज्ञेयभाव वहाँ पर अपर या अपर ब्रह्म है ।

यह ज्ञातृभाव अपरिच्छिन्न सत्ता है और ज्ञेयभाव परिच्छिन्न है ।

(२) अनुज्ञाता योग

जिस कारण शरीर में तुरीय ब्रह्म ओतयोग में युक्त होकर रहते हैं वह कारण शरीर भी क्या ब्रह्म नहीं हैं ? वह भी ब्रह्म है और जीवात्मा जब कारण शरीर में ब्रह्म भाव आरोप कर उस ओर दौड़ता है उस समय वह प्रकारान्तर से कारण शरीर में

ही तुरीय भाव आरोपित करता है। कारणात्मा ही ब्रह्म है। यह भाव तुरीय स्थिति का पूर्वाभाव होने के कारण तुरीय की इस अवस्था को अनुज्ञाता योग कहते हैं। जैसे व्यापक दृष्टि से पृथिवी के साथ जन्म स्थिति एवं मृत्युगत अच्छेद्य सम्पर्क को समझकर सूर्य को पहचानना है। वास्तव में पृथिवी सूर्य से धातुगत विचार से पृथक् नहीं है, यह बोध जिस योग के द्वारा जगता है, उसी को ही हम अनुज्ञाता योग कहेंगे।

इस अनुज्ञाता योग में ज्ञातृ-ज्ञेय सम्पर्क स्फुट-भाव से नहीं रहने पर भी अर्द्ध स्फुट भाव से रहता है, अतः ओत योग के तुल्य इसको भी तुरीय की चरमावस्था नहीं कह सकते।

(३) अनुज्ञा योग

परिच्छिन्न सोपाधिक या सविशेष सत्ता जब ध्यानयोग में अपरिच्छिन्न निरुपाधिक या निर्विशेष भावात्मक अवस्था में उपनीत होती है या उस भाव की प्राप्ति की चेष्टा चलती है तब उसे अनुज्ञा योग कहा जाता है अर्थात् यह मानो ज्ञान साधना में पृथिवी से सूर्य का धातुगत तथा स्वभावगत अभेदत्व समझ कर उसे ही सूर्य के परिच्छिन्न रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करना है। इस योग में भी द्वैतभाव अस्फुट रूप से रहता है।

(४) अविकल्प योग

इसमें किसी द्वितीय भाव का अवकाश नहीं है। सत्ता यहाँ

एकात्म-प्रत्यय-सार मात्र रहती है। आत्मा यहाँ पर केवल ज्ञान-स्वरूप है। आत्मा इस अवस्था में ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता इन त्रिविध भावों के सर्व प्रकार के गुणामासों से रहित रहता है। इस अविकल्प अवस्था में उपस्थिति निर्वीज कैवल्यस्थिति या निर्विकल्प समाधि का शाश्वत भाव है।

इस तुरीय ब्रह्म को स्थूल प्रज्ञ नहीं कह सकते। क्योंकि, स्थूल विषयिणी बुद्धि या ज्ञान के द्वारा वे ज्ञेय होने वाले नहीं हैं। उनको सूक्ष्म प्राज्ञ भी नहीं कह सकते क्योंकि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बुद्धि या संकल्प-विकल्पात्मक मनीषा द्वारा भी वे ज्ञेय होने वाले नहीं हैं। फिर उन्हें उभय-प्रज्ञ भी नहीं कह सकते अर्थात् स्थूल बुद्धि भी नहीं और सूक्ष्म बुद्धि भी नहीं, इन दोनों के बीच के किसी भाव के द्वारा वे ज्ञेय हैं, ऐसी बात भी नहीं है। ज्ञान और बुद्धि के घनत्व की अवस्था में वे प्राप्य हैं अथवा वे ज्ञान और बुद्धि की घनत्व अवस्था ही हैं, ऐसा भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, वह अवस्था जो वास्तव में प्रज्ञानघन अवस्था है, उसमें तो सर्वज्ञत्व तथा सर्वेश्वरत्व का बीज रह ही जाता है। अतः वे अविकल्प या निर्वीज तो नहीं ही हैं, तुरीय भी नहीं हैं। प्रज्ञानघन अवस्था को हम कारणात्मा कहेंगे जो व्यष्टि-समष्टि भेद से प्राज्ञ और सूत्रेश्वर नाम से अभिहित होकर रहते हैं। वास्तव में जो सत्ता स्थूलप्रज्ञ भी नहीं, सूक्ष्मप्रज्ञ भी नहीं, उभयत-प्रज्ञ या प्रज्ञानघन भी नहीं, मन या मननक्रियाओं के साथ उसका कोई भी मतलब

नहीं रह सकता है। वह सत्ता मन की परिधि के बाहर है। साधारण ज्ञान या बुद्धि चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, घन हो या अघन या मन का चिन्तनात्मक कोई दूसरा विशेषण क्यों न हो, तुरीय ब्रह्म इनमें से कोई नहीं है। क्योंकि, वे मन की परिधि के बाहर हैं। वे सभी विशेषणों से मुक्त हैं अथवा उनके ज्ञान या बुद्धि में साधारणत्व, असाधारणत्व, घनत्व-अघनत्व इत्यादि भाव नहीं हैं, यह बात भी नहीं कही जा सकती है क्योंकि, वे मन की परिधि के बाहर हैं। यह सब कहने का अर्थ होगा उनको घनात्मक या ऋणात्मक विशेषण देना। मानस भूमि के अधिकार के बाहर होने के कारण उनको देखा नहीं जाता है एवं जागतिक कार्यों में और दश-बीस वस्तुओं की भाँति उनका व्यवहार भी नहीं किया जाता है। अतः ग्रहण-वर्जन भी नहीं किया जाता है। लक्षणगत भेद के कारण वस्तुभेद निर्धारित होता है। मन उनके लक्षण का निर्धारण नहीं कर सकता, अतः किसी वस्तु से उनका भेद भी निर्धारण नहीं कर सकता है। अतएव वे वस्तु नहीं हैं; अवस्तु हैं। यह तुरीय सत्ता मानसातीत होने के कारण ध्यान में भी अभिगम्य नहीं है। उनके स्वरूप का वर्णन किया भी नहीं जा सकता है, कारण वस्तु भाषा अपरवस्तु का किस प्रकार वर्णन कर सकेगी? यह तुरीय ब्रह्म प्रत्येक वस्तु के अस्तित्वगत बोधसत्ता के पीछे सत्स्वरूप में है। जो तत्त्व विरक्षेण तथा तत्त्वदर्शन की शेष परिणति में सारस्वरूप में

रह जाता है। वे शिव हैं। वे भूमानन्द हैं। उनके लिए यदि संख्यावाचक कोई शब्द व्यवहार करना ही हो तो “एक” शब्द का ही व्यवहार करना होगा। उनके भाव में एक से अधिक के लिए स्थान नहीं है और द्वैतभाव से रहित होने के कारण वे परमशान्त हैं। द्वैत-भाव से रहित होने के कारण वे विकार रहित हैं। क्योंकि, एक वस्तु के ऊपर अन्य वस्तु की शक्ति के सम्प्रयोग से विकार संसाधित होता है। उनका भावमात्र ही केवल सार्थक भाव है अर्थात् चतुर्थ पाद के प्रथम तीन पाद परम सत्य नहीं हैं। चतुर्थ पाद तुरीय ही एकमात्र सत्य है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ पारमार्थिक सत्ता नहीं हैं। क्योंकि उनमें गुणाभास रहता है। क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप ज्ञेय से ऊपर उनके अस्तित्व की सत्ता निर्धारित होती है। इसीलिये प्रथमोक्त तीन अवस्थाएँ या आत्मा के प्रथम तीन पाद परनिर्भर-शीलता के कारण आपेक्षिक सत्य हैं और चतुर्थ अवस्था तुरीय अन्य-निरपेक्ष होने के कारण पारमार्थिक सत्य है, पूर्ण सत्य है, Absolute truth है। उनमें स्थिति लाभकर अमृतत्व अर्जन करो। वे ही सच्चे आत्मा हैं। यदि कोई अवस्था सचमुच में काम्य हो सकती है तो वह है यह अवस्था—यह तुरीय अवस्था। इस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मागत कोई भेद नहीं रह सकता है। इस अवस्था में कर्म, अकर्म और विकर्म का भी कोई स्थान नहीं। सञ्जर और प्रतिसञ्जर का भी वैचित्र्य नहीं है। यह भाव ही आत्मा का स्वभाव है—स्वरूप है। जाग्रत्

अवस्था में समष्टि विराट्, व्यष्टि विश्व, स्वप्नावस्था में समष्टि हिरण्यगर्भ, व्यष्टि तैजस, सुषुप्तावस्था में समष्टि सूत्रेश्वर व्यष्टि प्राज्ञ है। किन्तु, इस तुरीयावस्था में सम्पूर्ण भाव से गुण और गुणाभास लुप्त होने के कारण एवं सब प्रकार के भेदों से रहित होने के कारण समष्टि और व्यष्टि भाव भी यहाँ नहीं रह पाते। इस अवस्था में वे समष्टि-व्यष्टि निर्विशेष एक अद्वितीय ईश्वरप्राप्त नाम से अभिहित होते हैं। केवल सूक्ष्मतम मैपन में—आत्मा में ही इनकी प्रतीति होती है। ये हैं साधना के धन; तर्क-विज्ञान से लभ्य नहीं। इनमें प्रतिष्ठित होने से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भी नस्यात् हो जाती हैं अर्थात् वास्तव में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कल्पना-मात्र, माया मात्र, “असत्” भाव का “सत्” प्रतीति मात्र है। पञ्च-भूतात्मक समस्त जगत् ही इस तुरीय भाव में लय हो जाता है अर्थात् इनके भाव में ही सब प्रपञ्चों का उपसम हो जाता है। इनमें ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जीवात्मा और परमात्मा का आभास लोग देखते हैं। इनको ही जानना होगा।

ये ईश्वर-प्राप्त हैं। जाग्रदवस्था की अपेक्षा स्वापनिक अवस्था की परिधि बृहत्तर है और स्वापनिक अवस्था से सुषुप्तावस्था की परिधि और भी बृहत् है। यह तुरीय अवस्था उस सुबृहत् सुषुप्तावस्था को भी समाच्छन्न कर देती है। इसीलिए तुरीय अवस्था सर्वबृहत्—सर्वप्राप्ति है। सुषुप्ति के अभिमानी परमपुरुष (ईश्वर) भी इनमें प्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए

इनका नाम ईश्वरप्रास है ।

व्यष्टिभाव

समष्टिभाव

जाग्रदवस्था वा स्थूलावस्था
स्वप्नावस्था या सूक्ष्मावस्था
सुषुप्तावस्था या कारणावस्था

क्षीरसमुद्र या क्षीराब्धि
गर्भोदक
कारणार्णव

(बीज)

जाग्रदवस्था में—विश्व
स्वप्नावस्था में—तैजस
सुषुप्तावस्था में—प्राज्ञ

क्षीरसमुद्र में—विराट
गर्भोदक में—हिरण्यगर्भ
कारणार्णव में—ईश्वर या
सूत्रेश्वर

तुरीयावस्था में ईश्वरप्रास

यह तुरीयावस्था सब गुणों के अतीत है । तुरीय का किसी भाषा में वर्णन नहीं किया जा सकता है । शास्त्र में उनको केवल समझाने की चेष्टा ही की जा सकती है । किन्तु समझाने की भाषा शास्त्र के अधिकार में नहीं है । तुरीय भाव में अभिमान तो है ही नहीं । तुरीय के चतुर्थ पाद में अर्थात् अविकल्प में साक्षित्व का भी लेशमात्र अवकाश नहीं है । अस्ति-नास्ति बोधात्मक मन इस तुरीय को अपनी सीमा में पाने के लिए

कितना भी सिर क्यों न पटके, इसको वह कभी भी नहीं पकड़ सकेगा । इनको पाने के लिए करनी होगी आत्मनिवेदन की साधना । इनको पाने के लिए चाहिए सोलहो आना आत्म-समर्पण । एक आना भी हाथ में रखने से काम नहीं चलेगा ।

शुभमस्तु

अग्रहायण पूर्णिमा—१९५६

आनन्द मार्ग प्रचारक संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकावली

	रु० न० पै०
(१) आनन्दमार्ग (हिन्दी और बंगला)	२. ००
(२) चर्याचर्य-प्रथम खण्ड (हिन्दी और बंगला)	१. ५०
(३) चर्याचर्य-द्वितीय खण्ड (बंगला और दक्षिणी मैथिली)	०. २५
(४) चर्याचर्य-द्वितीय खण्ड (हिन्दी)	०. ३०
(५) सुभाषित-संग्रह-प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय खण्ड (बंगला प्रति खण्ड)	१. ००
(६) सुभाषित-संग्रह प्रथम खण्ड (हिन्दी)	२. ००
(७) तार्किक प्रवेशिका (अंगरेजी)	१. ५०
(८) तत्त्व कौमुदी (बंगला और हिन्दी)	०. १२
(९) चिकित्सा और द्रव्यगुण (बंगला)	३. ००
(१०) आज की समस्याएँ (बंगला, हिन्दी, अंगरेजी)	०. ५०

प्राप्ति स्थान—

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ

पो० जमालपुर

जि० मुंगेर